जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 8 • अगस्त, 2004

With Best Compliments From :

GIRIAS

The Consumer Durable People

The Undisputed No. 1 in Karnataka for Television and Home Appliances

BANGALORE 4 world class Showrooms

Gandhinagar ☆ Ph : 2264551, 2204189, Fax : 2262123

Brigade Road Ph : 2228032, 2270126, Fax : 2235555

Sadashivnagar ☆ Ph : 3619195, 3619196, Fax : 3611448

Jayanagar Ph : 6566140, 6566141, Fax : 6566142

COIMBATORE 2 world class Showrooms

Dr. Nanjappa Road Ph : 233059, Fax : 231675

Cross Cut Road Ph : 236486, Fax : 236487

MANGALORE
NALPAD APSARA CHAMBERS
K. S. Rao Road, Hampan Katta
Tel. : 2442220, 2442880

TIGER 388292

KARNATAKA FILATEX

(Mfrs. of H.D.P.E Woven Fabric)
Magadi Chord Road, BANGALORE 560079
Ph. 23353714

UTTARANCHAL TEA CO. PVT. LTD.

Pingalkot, Post. Kausani
Dist. Bageshwar, Uttaranchal
Ph. : 059 62 45330 / 331 Fax : 45314

SONY BPL SAMSUNG ELECTRONICS LG IFB SHARP Electrolux Kelvinator VIDEOCON Whirlpool ONIDA PHILIPS

Godrej THOMSON SANSUI AIWA USHA LEXUS FORBES GLEN APPLIANCES BRAUN MAHARAJA kailash ULTRA GRIND

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • अगस्त, 2004 • अंक 8

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
स्वतंत्रता की सीमा

13
स्वामी विवेकानंद
क्या आत्मा अमर है

19
डॉ. ओम कुवेरा
आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

27
डॉ. विद्यानिवास मिश्र
आधुनिक जीवन की विडंबना

31
साध्वी शुभ्रयशा
जरा मुझे समझो तो

34
समणी भावितप्रज्ञा
बोलो वचन विचार

37
समणी सत्यप्रज्ञा
शत्रु क्या है—खोज करें

39
कहानी
तोलेटि जगन्मोहन राव
मुझे मेरा बचपन वापस दो

44
कविता
भारतभूषण अग्रवाल की कविता

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-तेजस्विता

शीलन

47
मुनि धर्मचंद 'पीयूष'
प्रेम और रक्षा का पवित्र प्रतीक

50
साध्वी लक्ष्मीकुमारी
जेतो नीचो व्है चलै तेतो ऊंचो होय

52
बालकथा
अनंत देव शर्मा
पुरस्कार

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

निमंत्रण सबको, भोजन एक को

साधुपन स्वीकार कर उसे भली-भांति पालता है, वह महान पुरुष होता है। कुछ कहते हैं—'पांचवें आरे में पूरा साधुपन नहीं पाला जा सकता। इस समय ऐसा ही साधुपन पाला जा सकता है।' इस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया।

किसी ने भोजन के लिए पूरे परिवारों को निमंत्रण दिया। भोजन के समय वह प्रत्येक परिवार में से एक-एक व्यक्ति को भीतर ले जाता है, शेष सबको बाहर ही रोक देता है।

लोगों ने कहा—'तुमने पूरे परिवार को सामूहिक निमंत्रण दिया और उनमें से एक-एक को भोजन करने भीतर ले जाता है—यह क्यों?'

तब वह बोला—'मेरी सामर्थ्य इतनी ही है।' उसने आगे कहा—'अमुक ने अपने पिता के पीछे धूल उड़ा दी, मृत्यु-भोज किया ही नहीं। मैं एक-एक को तो भोज कराता हूं।'

तब लोगों ने कहा—'तुम भी मृत्यु-भोज नहीं करते तो कौन तुम्हारे द्वार पर आकर धरना देता? पूरे परिवारों को सामूहिक निमंत्रण देकर एक-एक को भोजन कराते हो, इससे तुम्हारा जन्म बिगड़ता है।'

इसी प्रकार दीक्षा लेते समय पांच महाव्रत स्वीकार करता है और आचरण के समय उनका पूरा पालन नहीं करता, उसके इहलोक और परलोक, दोनों बिगड़ जाते हैं।

❑

दिवालिया कौन?

साधु का आचार बताया जाता है, उसे कुछ शिथिल आचार वाले निंदा मानते हैं। इस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—

एक साहूकार अपने बेटे को शिक्षा देता है—'जिससे उधार ले, उसकी राशि लौटा देनी चाहिए। न लौटाने वाले को लोग दिवालिया कहते हैं।' उसका पड़ोसी दिवालिया था। यह सुनकर वह जल-भुन जाता है। वह कहता है—'यह बेटे को शिक्षा नहीं दे रहा है, मेरी छाती को जला रहा है, हृदय पर आघात लगा रहा है।'

इसी प्रकार कोई साधु साधु का आचार बतलाता है, उसे सुनकर वेषधारी साधु जल-भुन जाता है और कहता है—'यह मेरी निंदा कर रहा है'।

आत्म-शुद्धि किसी स्थान, संस्थान, व्यक्ति या विचारधारा से अनुबंधित नहीं है। आत्मशोधन के साथ यश, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि की कामना भी टिक नहीं पाती। आत्म-शुद्धि के अभियान में प्रस्थित साधक किसी के प्रति विद्रोह भी नहीं कर सकता। उसे जो करना होता है, करता है। अपने कार्य में उसके सामने अनेक बाधाएं और विपदाएं भी आकर खड़ी होती हैं, किंतु उनके समक्ष वह कभी घुटने नहीं टेकता। उसकी यह आस्था होती है कि जिस प्रकार सोना कसौटी पर कसा जाने के बाद निखार पाता है, वैसे ही संघर्षों की आग में तपकर सत्य निखरता है।

—आचार्यश्री तुलसी

ज्ञान एक पवित्र अनुष्ठान है। जो ज्ञान की आराधना में अपनी शक्ति और समय का सम्यक नियोजन करता है, वह आगे चलकर दुनिया का एक बड़ा आदमी बन सकता है। हमारे प्राचीन वाङ्मय में ज्ञानप्राप्ति में अनेक बाधाओं का उल्लेख है। उनमें पांच प्रमुख बाधाएं हैं—अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग, और आलस्य। जहां अहंकार होता है, वहां दुर्गुणों के लिए प्रवेशद्वार खुल जाता है। विनम्रता ज्ञानार्जन की अनिवार्य शर्त है। एक क्रोधी व्यक्ति को भी ज्ञान के अयोग्य माना गया है। बार-बार आवेश करने वाला अपनी बहुत-सारी शक्ति यों ही खपा देता है, फलतः वह ज्ञान की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाता। प्रमाद का अर्थ है—आंतरिक अनुत्साह। जब उत्साह ही नहीं तो ज्ञान आएगा कैसे? और आया भी तो टिकेगा कैसे? इसी तरह कुछ पाता है तो स्वस्थता अनिवार्य है। एक स्वस्थ मस्तिष्क में ही ज्ञान की स्फुरणा होती है। ज्ञानप्राप्ति की सबसे प्रमुख शर्त है—अनालस्य अथवा ज्ञान की दिशा में निरंतर पुरुषार्थ। पुरुषार्थी व्यक्ति गहन अंधकार में भी सफलता का चिराग प्रज्वलित कर लेता है। अपेक्षा है—इन बाधाओं को निरस्त करते हुए प्रगति की दिशा में नए पदचिह्न अंकित करे।

—युवाचार्य महाश्रमण

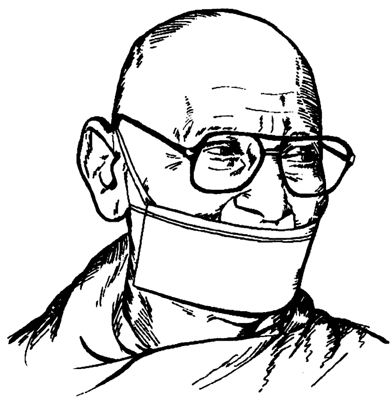

विश्वशांति, एक मानव-परिवार, निःशस्त्रीकरण—इन शब्दों का बार-बार पुनरुच्चारण होता रहता है। यदि शब्दोच्चार मात्र से विश्वशांति स्थापित होती तो कभी की हो जाती। इन शब्दों की पुनरावृत्ति कोई बुरी बात नहीं है, बहुत अच्छी है, किंतु इसके साथ विश्वशांति के बाधक तत्त्वों पर गंभीर चिंतन जरूरी है। उसके बाधक तत्त्वों की एक संक्षिप्त तालिका यह हो सकती है—

- साम्राज्यवादी मनोवृत्ति
- बाजार पर प्रभुत्व
- जाति का अहंकार
- सांप्रदायिक कट्टरता
- उपभोग सामग्री की विषमतापूर्ण अवस्था और व्यवस्था

इसमें भी अधिक मूल कारण है व्यक्ति का अपने संवेगों पर नियंत्रण न होना। संवेग-संतुलन के व्यापक प्रचार और प्रयोग पर गहन विचार किए बिना वैज्ञानिक युग में उपजी हुई समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता।

परिष्कार के लिए शिक्षा प्रणाली पर पुनर्विचार की आवश्यकता है—केवल हिंदुस्तान में ही नहीं, पूरे विश्व में। इस विषय में प्राकृत साहित्य का एक सुंदर निर्देश है—शिक्षा दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होनी चाहिए : 1. आजीविका की समस्या को सुलझाने के लिए; 2. सद्गति के लिए।

सद्गति का अर्थ है जीवनमूल्यों अथवा चारित्रिक मूल्यों का विकास। इनके अभाव में समाज में सद्गति की अनुभूति नहीं होती, स्वस्थ समाज की रचना नहीं होती।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-तेजस्विता

जो व्यक्ति मन, वचन और कर्म से अहिंसक है उसकी तेजस्विता अमिट है, अपार है। तेजस्वी पुरुष के आभामंडल की अक्सर चर्चा होती है और ऐसे पुरुषों के दैनंदिन व्यवहार में हम पाएंगे कि बुनियादी रूप से वे अहिंसक होते हैं। कहा जा सकता है कि बिना अहिंसा के तेजस्विता संभव नहीं। जहां अहिंसा है वहीं तेजस्विता है और यदि किसी में तेजस्विता के दर्शन होते हैं तो मानना चाहिए कि अहिंसा उसमें सन्निहित है।

तेजस्विता का प्रभाव सामान्य जन पर भी सहज रूप में पड़ सकता है और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामान्य जन को भी अहिंसा प्रभावित करती है। यदि ऐसा मान लिया जाए तो सामान्य जन के स्वभाव, उसके दैनंदिन व्यवहार में अहिंसा की झलक भी अवश्य मिलनी चाहिए। यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि मनुष्य मूलतः अहिंसक ही है। अतः यह मानना होगा कि स्वभावतः भी वह अहिंसक ही होता है और दैनंदिन व्यवहार में भी अहिंसक होकर ही रह सकता है। हम सोचें, क्या हिंसक रहते हुए जीवन बसर हो सकता है? कहना होगा कि ऐसा संभव नहीं। तब भी हम हिंसा से मुक्त नहीं हैं, तो इसके कारण क्या हैं?

इसके कारणों के लिए हमें अपनी सामाजिक व्यवस्था को ही खंगालना होगा। समाज-व्यवस्था पर भी काफी कहा जा चुका है और अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययन यह बताते हैं कि समाज में व्याप्त विसंगतियां यदि समाप्त हो जाएं तो असंतोष स्वतः मिट सकता है और तब अहिंसक-समाज की बात भी सिद्ध हो सकती है। स्पष्ट है कि समाज-व्यवस्था के ढांचे में परिमार्जन होना चाहिए।

हमें अहिंसा के गूढ़ार्थ समझने चाहिए। शास्त्रकार मानते हैं कि राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति से अशक्य कोटि का प्राण-वध हो जाए तो भी नैश्चयिक हिंसा नहीं होती और राग-द्वेष सहित प्रवृत्ति के किसी भी कदम से प्राण-वध भले न हो, फिर भी हिंसा की श्रेणी में वह आ ही जाएगा। क्योंकि शास्त्रकार साफ तौर पर यह मानते हैं कि जो राग-द्वेष की प्रवृत्ति करता है, वह अपनी ही आत्मा का घात करता है, फिर दूसरे जीवों का घात चाहे हो या न हो। अतः जहां राग-द्वेष की प्रवृत्ति है, वहां निरंतर प्राण-वध है।

यह भी कहा गया है कि प्रमाद और कामभोगों में जो आसक्ति है, वही हिंसा है।

सामाजिक स्तर पर हमें इन बातों को ठीक से समझना चाहिए। शास्त्रकारों ने कुछ करने पर नियंत्रण लगाने की बात ही नहीं की है, वे तो उसके प्रति आसक्ति रखना गलत मानते हैं। राग-द्वेष रहित या अनासक्त भाव से कुछ होने में हिंसा न होना मानने का तात्पर्य यही है कि वैसा करने में संयम-भाव स्वतः निहित है। हमारे सामाजिक ढांचे में परिमार्जन की मुख्य आवश्यकता इसी संयम-भाव की है। शरीर की आवश्यकता के लिए जो उपभोग हम करते हैं, यदि वह अनासक्त भाव से हो तो अनेक विषमताएं मिट सकती हैं। जैसे, भोजन करना जरूरी है—क्योंकि शरीर को पोषण चाहिए।

पर, जिह्वा के स्वाद के लिए या रस में आसक्त होकर खाने के लिए यदि हम प्रवृत्त होते हैं तो अनेक तरह के विकारों को न्योता दे रहे होते हैं। यह नियंत्रण सीधे तौर पर उपभोग पर नहीं है, अपितु अनियंत्रित उपभोग पर है।

आज भी समाज में अनेक जन हैं जो उपभोग से विरत नहीं हैं, पर अनियंत्रित उपभोग से मुक्त हैं। उनका तेजस्वी आभामंडल किसी को भी प्रभावित करता है। यह प्रभाव या तेजस्विता अहिंसा का ही प्रतिफल है। ऐसे जन प्रकारांतर से अहिंसक ही होते हैं।

राग-द्वेष अथवा कामोपभोग के प्रति आसक्ति में विवेक का सर्वथा अभाव देखा जाता है। हम पाते हैं कि ऐसे जन उचित-अनुचित का विवेक नहीं कर पाते। ऐसा होना व्यक्ति-विशेष के लिए तो हानिकर है ही, सामाजिक स्तर पर भी उसके दुष्प्रभाव देखे जा सकते हैं। शराब अथवा नशीले द्रव्यों का सेवन केवल करने वाले को ही पीड़ित नहीं करता—घर, परिवार और समाज भी इस दुष्प्रवृत्ति की चपेट में आ जाते हैं। अक्सर यह बात सामने आती है कि राज्य सरकारें शराब-बंदी करते हुए इसलिए झिझकती हैं कि उससे राजस्व-आय की क्षति होगी और उस घाटे की पूर्ति का विकल्प उसके सामने नहीं। जबकि किसी सरकार ने ऐसा सामाजिक अध्ययन नहीं कराया कि शराब के अनियंत्रित सेवन से होने वाली व्याधियों के उपचार पर कितना धन बरबाद होता है और यदि शराबबंदी हो जाए तो उससे पैदा होने वाली बीमारियां ही कम हो जाएं, गरज कि उपचार पर होने वाले खर्च में भी कमी आ जाए। इसी तरह नशे में चूर व्यक्ति की कार्यक्षमता क्षीण होती जाती है और उससे होने वाले घाटे का कभी कोई हिसाब लगाया ही नहीं जाता।

महात्मा गांधी ने इसीलिए अस्पतालों को पाप की जड़ कहा है। महात्माजी कहते हैं—'उनकी बदौलत लोग शरीर का जतन कम करते हैं और अनीति को बढ़ाते हैं।' गांधी के इस मत के विवेचक तो अस्पतालों को विलासिता का अड्डा तक कहते हैं। हमारी समाज-व्यवस्था में परिमार्जन होगा तब अस्पतालें तो रहेंगी, पर तब वे विलासिता के केंद्र नहीं कहलाएंगी, क्योंकि तब अस्पतालें कामोपभोग में आकंठ डूबने से हुए बीमारों के लिए नहीं होंगी।

इस तरह हम पाते हैं कि राग-द्वेष और आसक्ति-मुक्त होने से हम ऐसे समाज-निर्माण में अग्रसर होंगे जिसे अहिंसक-समाज कहा जा सकेगा। अहिंसा की तेजस्विता से प्रदीप्त समाज से स्वयं अहिंसा भी तेजस्वी होगी। कहने का तात्पर्य यह कि किसी एक समूह अथवा किसी एक वर्ग का भी यदि ऐसा निर्माण हो जाए तो प्रामाणिक तौर पर यह कहा जा सकेगा कि वृहद स्तर पर भी ऐसा होना संभव है।

अहिंसा तेजस्वी कैसे हो? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस प्रसंग पर महात्मा गांधी का स्मरण करते हैं और याद दिलाते हैं कि गांधीजी ने असहयोग, प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास, सविनय-अवज्ञा जैसे प्रयोग किए और अहिंसा तेजस्वी बनी। आज फिर अहिंसा के क्षेत्र में कुछ सक्रिय प्रयोग करने की आवश्यकता है। केवल अहिंसा की दुहाई देने से नहीं, प्रयोगात्मक रूप से कुछ करने की आवश्यकता है। यही बात आगे बढ़ाते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक बेबाक टिप्पणी भी करते हैं—'अहिंसा का जीवन हम जीना चाहते हैं, किंतु इसकी पृष्ठभूमि में जो समस्याएं हैं, उनका सामना करना नहीं चाहते। अहिंसा को तेजस्वी बनाने की बात आती है तो मैं सोचता हूं कि अहिंसा शब्द को ही सामने लाने की बात नहीं रहेगी, उसके पीछे क्या करणीय है, उस पर भी हमारा ध्यान केंद्रित होना चाहिए। अहिंसा सार्वभौम की परिकल्पना के पीछे यही बात जुड़ी हुई है कि किस प्रकार का मनोभाव विकसित किया जाए कि अहिंसा अपने ही आप पूरी तेजस्विता के साथ अवतरित हो।'

अहिंसा-तेजस्विता के अवतरण के लिए जो-जो माध्यम हो सकते हैं—उन पर कई बार, कई पहलुओं से चर्चाएं होती रही हैं। चर्चाओं का ऐसा सिलसिला तो चलते रहना ही चाहिए, पर इसके साथ कुछ प्रयोग और थोड़ा क्रियात्मक कार्य भी अब होना जरूरी है। अलग-अलग स्तरों पर ऐसे काम हो रहे हैं। इसी तरह राग-द्वेष व आसक्ति-मुक्त होकर जीवन जीने की कला भी समाज में अनेक जनों के पास है—उन सबका समुचित अध्ययन, दस्तावेजीकरण और विवेचन होना चाहिए। अब उस मथनी की आवश्यकता है जो मक्खन निकालने में सहायक होती है।

अहिंसा-तेजस्विता के लिए भी ऐसी मथनी और ऐसे मथनिए अब जुटने चाहिए। बढ़ रही विषमता और विकरालता को सीमित करने और शून्य पर लाने के ऐसे अभिक्रमों की अब नितांत आवश्यकता है।

—शुभू पटवा

विमर्श

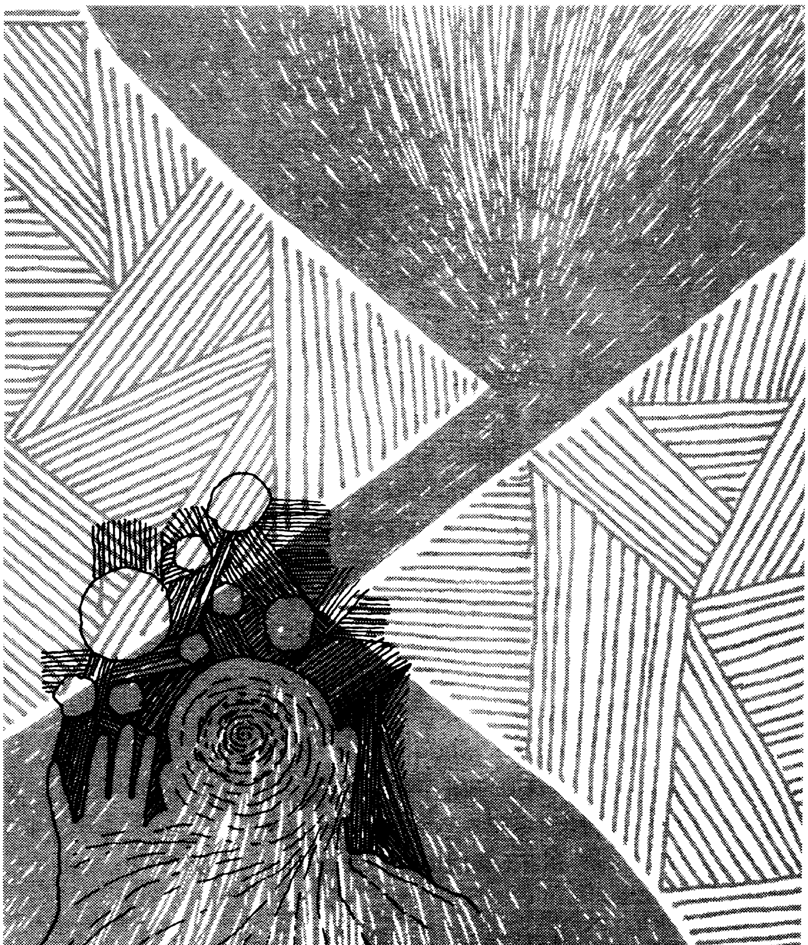

तत्त्वज्ञान के बिना सच्ची स्थितप्रज्ञता नहीं आ सकती। तत्त्वज्ञान अंतःकरण की शुद्धि के बिना नहीं हो सकता। कर्मयोग के बिना अंतःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती। ब्रह्मसत्य के साक्षात्कार में कर्मयोग का असाधारण महत्त्व है। अपने अंतःकरण की शुद्धि और ईश्वरप्रीति के लिए किया जाने वाला पुरुष का प्रत्येक विहित प्रयत्न कर्मयोग है। शारीरिक प्रयत्न धर्म है। मानसिक प्रयत्न उपासना है। बौद्धिक प्रयत्न सांख्य है। यह सब पुरुष-प्रयत्नसाध्य होने के कारण कर्मयोग की ही बहिरंग-अंतरंग शाखाएं हैं। इनके द्वारा चित्तशुद्धि होकर महावाक्य के द्वारा भूमासत्य विषयक चरमावृत्ति होती है। वही अज्ञान का नाश करती है।

—अखंडानंदजी सरस्वती

संदर्भ : स्वाधीनता दिवस

स्वतंत्रता की सीमा

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

आचार्य विराज रहे थे। विनम्र मुद्रा में वंदना कर शिष्य बोला—'गुरुदेव! मेरे मन में मोक्ष की उत्कट अभिलाषा है। मैं बंधन से मुक्त होना चाहता हूं। आप अनुग्रह कर बताएं—मोक्ष का मार्ग क्या है?' आचार्य ने बहुत संक्षिप्त-सा उत्तर दिया—'छंद का निरोध करो, स्वच्छंदता का निरोध करो, बंधन-मुक्ति हो जाएगी।'

शिष्य विस्मय में पड़ गया। उसने मन-ही-मन सोचा—मेरे पास और बचा ही क्या है? घर-बार छोड़ा, परिवार छोड़ा, धन-धान्य छोड़ा, मित्रों को छोड़ा, सगे-संबंधियों को छोड़ा, सबको छोड़ दिया। केवल एक छंद ही तो बचा है, जो अपना है। गुरु कहते हैं, उसका भी निरोध करो। वह बोला—'गुरुदेव! बात समझ में नहीं आई। छंद को छोड़ दूं तो फिर बचेगा क्या?'

गुरु ने कहा—'इसको छोड़ दोगे तो फिर जो है, वही बचेगा। बाकी सारा-का-सारा चला जाएगा। बंधन आरोपित है। मोक्ष स्वाभाविक है। छंद के निरोध से केवल स्वभाव शेष रहेगा। जो आरोपित है, वह चला जाएगा।'

शिष्य बोला—'आचार्यवर! मैं बात को समझ नहीं सका। आप इसे और स्पष्ट कराएं।'

आचार्य ने कहा—'आठ आत्माएं हैं। द्रव्य-आत्मा, कषाय-आत्मा, योग-आत्मा, उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा और वीर्य-आत्मा। इनमें जो कषाय-आत्मा है, उसका निरोध करो और ज्ञान-आत्मा को जागृत करो, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी।'

स्वतंत्रता की यह सीमा स्वयं द्वारा ही निर्धारित होती है—

ज्ञानात्मा नाम संबुद्धः, कषायात्मा नियंत्रितः।
स्वतंत्रतायाः सीमैषा, स्वयं निर्धारित भवेत्।।

छंद की अपनी सीमा होती है। छंद एक श्लोक का होता है और एक अपना भी होता है। छंद का अर्थ है—संकल्प। छंद का अर्थ है—स्वतंत्र विचार या स्वतंत्र प्रवृत्ति। स्वतंत्रता का यह प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित है। कोई भी व्यक्ति परतंत्र बनना नहीं चाहता, इसलिए स्वतंत्रता के अर्थ को समझना अपेक्षित है। छंद से एक शब्द बनता है—'स्वच्छंदता'। स्वच्छंदता स्वतंत्रता नहीं है। वास्तव में छंद-निरोध का नाम है—स्वतंत्रता। यह आचार का पहलू है, साथ-साथ दर्शन का पहलू भी है।

> *आत्मकर्तृत्व की परंपरा में स्वाधीनता का पूरा सम्मान किया गया है। ईश्वर-कर्तृत्व की परंपरा में उसका कोई सम्मान नहीं हो सकता। वहां प्रत्येक व्यक्ति एक प्रकार से यंत्र जैसा होता है। जैसी नियुक्ति करो, वैसा ही वह चलेगा, वैसा ही वह काम करेगा। उसकी अपनी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं होती। आत्मकर्तृत्व की परंपरा में संकल्प की पूरी स्वतंत्रता है, पर उसमें भी कुछ बाधाएं हैं। एक बड़ी बाधा है प्रभावित होने की।*
>
> *भयं प्रलोभनं द्वेष, आवेशो हीनभावना।*
> *अहंकारो लोकवाद, एतैः स्यादप्रभावितः।।*
>
> *भय, प्रलोभन, द्वेष, आवेश, हीनभावना, अहं-भावना और लोकवाद—स्वतंत्रता की सीमा इनसे अप्रभावित होती है। वास्तव में इनसे अप्रभावित स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता है, अन्यथा वह परतंत्रता है।*

दर्शन की दो धाराएं हैं—ईश्वरवादी धारा और आत्म-कर्तृत्ववादी धारा। ईश्वरवादी धारा में कोई व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। ईश्वरवाद का प्रसिद्ध श्लोक है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयो।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा स्वभ्रमेव वा।।

जीव अज्ञ है। सुख-दुख उसके अधीन नहीं है। वह ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग अथवा नरक को प्राप्त होता है। आदमी जो भी काम करता है, ईश्वर की प्रेरणा से करता है। उसका अपना कोई कर्तृत्व नहीं है। जैसा ईश्वर चलाता है वैसा चलता है। इस संदर्भ में एक बहुत बड़ा आचारशास्त्रीय प्रश्न उपस्थित होता है—व्यक्ति यदि ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर ही काम करता है तो अपने किसी भी कर्तव्य के प्रति वह उत्तरदाई नहीं हो सकता। अपने कृत के प्रति व्यक्ति उत्तरदाई तभी हो सकता है, जब वह अपने स्वतंत्र संकल्प के द्वारा कोई कार्य करता है।

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक एम्यूनल कांट ने नैतिक दायित्व की, कर्तव्य की जो परिभाषा की है, उसका एक अंश माना है—स्वतंत्र संकल्प। व्यक्ति का वह संकल्प स्वतंत्र है, जो किसी के द्वारा प्रभावित नहीं है, किसी के द्वारा निर्धारित नहीं है। संकल्प की स्वतंत्रता में दोनों बातें होनी चाहिए। अगर व्यक्ति का संकल्प दूसरे के द्वारा प्रभावित है तो वह संकल्प स्वतंत्र नहीं हो सकता। यदि वह किसी के द्वारा निर्धारित है तो भी स्वतंत्र नहीं हो सकता।

यदि व्यक्ति का संकल्प किसी दूसरी शक्ति के द्वारा निर्धारित है, किसी दूसरे से प्रभावित है तो उसका उत्तरदाइत्व वह नहीं ले सकता, वह उसका उत्तरदाई नहीं हो सकता। एक आदमी चोरी करता है, यदि उसका कर्तव्य भी किसी दूसरी शक्ति से प्रेरित है, प्रभावित है या निर्धारित है तो चोर का कोई दोष नहीं हो सकता।

मालिक ने कहा—तुम जाओ और अमुक घर की वह चीज उठा लाओ। नौकर गया और उठा लाया। अब उत्तरदाई कौन बनेगा? मालिक या नौकर? नौकर तो मात्र काम करने वाला है, वह उत्तरदाई नहीं है। उत्तरदाई वह है जो उसे प्रेरित कर रहा है, उसके कार्य को निर्धारित कर रहा है।

जैन दर्शन आत्म-कर्तृत्व में विश्वास करता है। प्रत्येक काम के लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदाई है। फिर वह चाहे शुभ हो या अशुभ। दूसरा व्यक्ति उत्तरदाई नहीं है। उसका संकल्प किसी दूसरे के द्वारा निर्धारित नहीं है। 'मुझे यह काम करना चाहिए'—यह इच्छाकार का प्रयोग है। महावीर के पास कोई दीक्षा लेने आता। महावीर कहते—अहासुहं देवाणुप्पिया—देवानुप्रिय! जैसा तुम्हें सुख हो। यह है संकल्प की स्वतंत्रता। किसी साधु को किसी दूसरे साधु से काम कराना है, तो वह उसे बाध्य नहीं कर सकता। वह कहेगा—भंते! यदि आपकी इच्छा हो, आप चाहें तो यह काम कर दें।

आत्मकर्तृत्व की परंपरा में स्वाधीनता का पूरा सम्मान किया गया है। ईश्वर-कर्तृत्व की परंपरा में उसका कोई सम्मान नहीं हो सकता। वहां प्रत्येक व्यक्ति एक प्रकार से यंत्र जैसा होता है। जैसी नियुक्ति करो, वैसा ही वह चलेगा, वैसा ही वह काम करेगा। उसकी अपनी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं होती। आत्मकर्तृत्व की परंपरा में संकल्प की पूरी स्वतंत्रता है, पर उसमें भी कुछ बाधाएं हैं। एक बड़ी बाधा है प्रभावित होने की।

भयं प्रलोभनं द्वेष, आवेशो हीनभावना।
अहंकारो लोकवाद, एतैः स्यादप्रभाविताः।।

भय, प्रलोभन, द्वेष, आवेश, हीनभावना, अहं-भावना और लोकवाद—स्वतंत्रता की सीमा इनसे अप्रभावित होती है। वास्तव में इनसे अप्रभावित स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता है, अन्यथा वह परतंत्रता है।

पूरे धार्मिक जगत् का सिंहावलोकन करें तो पता चलेगा—धर्म के साथ जो नहीं आना चाहिए था, वह आ गया। धर्म के निर्मल प्रवाह में जो कलुष नहीं घुलना चाहिए था, वह घुल गया। जमाना ही कुछ ऐसा है—गंगा की पवित्र धारा में फैक्ट्रियों का कचरा नहीं मिलना चाहिए था, पर वह मिलता चला जा रहा है। गंगा का निर्मल पानी भी आज स्वच्छ नहीं रहा। धर्म के जगत् में भी शायद ऐसा ही कुछ हुआ है। आदमी धर्म कर रहा है, किंतु उसके पीछे भय की भावना काम कर रही है। सबसे बड़ा भय नरक का है। स्वतंत्रता में यह भय भी नहीं होना चाहिए। जहां शुद्ध उपयोग है, आत्मा की पवित्रता है—वहां किसी प्रकार का भय नहीं होता। उसमें प्रलोभन भी नहीं होना चाहिए। आज धर्म के साथ प्रलोभन भी जुड़ गया है। धन के लिए, बेटों के लिए, सुखी परिवार के लिए मुख्यतः धर्म की आराधना की जाती है। इसका कारण है—व्यक्ति की स्वतंत्रता भय और प्रलोभन से प्रभावित है।

अप्रभावित चेतना के बिना स्वतंत्रता का मूल्य नहीं आंका जा सकता। छंद का निरोध करो—इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वतंत्रता को काम में न लिया जाए, किंतु इसका अर्थ है—जो भय और प्रलोभन से प्रभावित छंद है, उसका निरोध किया जाए।

व्यक्ति आवेश से आविष्ट है। जब उत्तेजना आती है, आदमी अपना आपा खो देता है। क्रोध जागता है तो व्यक्ति

की सारी चेतना लुप्त हो जाती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता आवेश से प्रभावित है। व्यक्ति की स्वतंत्रता कभी हीनभावना से प्रभावित होती है और कभी अहंभाव से।

लोकवाद से भी व्यक्ति की स्वतंत्रता प्रभावित है। जब लोकवाद का प्रश्न सामने आता है, व्यक्ति की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। अनेक व्यक्ति सोचते हैं—यह काम बहुत अच्छा है। मुझे ऐसा करना चाहिए, किंतु लोग क्या कहेंगे? इस लोक संज्ञा या लोकवाद से व्यक्ति बहुत प्रभावित है। व्यक्ति शायद सबसे ज्यादा प्रभावित लोकवाद से ही होता है। आवेश, भय, प्रलोभन, अहं—ये भी व्यक्ति के छंद को प्रभावित करते हैं, किंतु सबसे ज्यादा प्रभावित करता है—लोकवाद। बहुत बार ऐसा सुनने को मिलता है—मुझे कोई चिंता नहीं है, पर दूसरे क्या समझेंगे? छंद-निरोध का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का निरोध करे। नैतिक आचरण में, धर्म के आचरण में संकल्प की स्वतंत्रता होनी चाहिए। अगर वह नहीं है तो कुछ भी नहीं होगा। स्वतंत्र संकल्प नहीं है, तो कोई भी काम नहीं हो सकेगा।

छंद का निरोध करने से मुक्ति मिलेगी, इसका मतलब छंद को रोकना नहीं है। छंद रुकेगा तो कविता भी नहीं बनेगी। कविता तभी बनेगी जब छंद चलेगा। छंद नहीं है तो कविता कहां से आएगी? छंद की, स्वतंत्रता की सीमा को समझना है। दार्शनिक भाषा से मुक्त होकर सरल भाषा में कहा जाए तो छंद-निरोध का तात्पर्य है—वासनात्मक छंद को रोकना और विवेकात्मक छंद का उपयोग करना। भय, क्रोध, काम आदि वासनात्मक छंद का निरोध करना और विवेकात्मक छंद का पूरा उपयोग करना—यह है स्वतंत्रता की सीमा। व्यक्ति विवेकात्मक छंद का उपयोग करने में पूरा स्वतंत्र है। उसका जितना उपयोग किया जाएगा, व्यक्ति की प्रसन्नता बढ़ती चली जाएगी।

स्वतंत्रता की सीमा को अगर पारिभाषिक शब्दावली में कहा जाए तो छंद-निरोध का अर्थ है—आठ आत्माओं में कषाय-आत्मा का निरोध करना तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपयोग-आत्मा को काम में लेना। केवल निरोध नहीं, निरोध और प्रयोग—दोनों साथ में चलते हैं। सीधे शब्दों में कहा जा सकता है—वासनात्मक आत्मा को सुला देना और विवेकात्मक आत्मा को जगा देना। एक को सुलाना है और एक को जगाना है। यदि ऐसा होता है तो स्वतंत्रता अक्षुण्ण बन जाती है, उसमें कहीं कोई बाधा नहीं आती। जो नहीं करना है, जो अनाचरणीय है, जो अकर्तव्य है—उसका निरोध करना ही छंद का निरोध है।

जब व्यक्ति की चेतना जाग जाती है, तब वह महात्मा या परमात्मा के संपर्क में चला जाता है। वहां छंद-निरोध की बात समाप्त हो जाती है। धर्म का मतलब ही है—स्वतंत्रता। अगर धर्म है और परतंत्रता है, तो फिर वह धर्म ही नहीं है। धर्म में पूरी स्वतंत्रता है। एक व्यक्ति क्रोध भी करे और धार्मिक भी बन जाए, यह एक विरोधाभास है। वस्तुतः क्रोध में व्यक्ति धर्म को भूल जाता है। क्रोध से प्रभावित चेतना स्वतंत्र नहीं होती। अगर थोड़ा गहराई में उतर कर देखें तो ज्ञात होगा—धर्म के सारे नियम स्वतंत्रता के नियम हैं। कोई परतंत्र बनाने वाला है ही नहीं। परतंत्रता की ओर जो प्रस्थान होता है, धर्म उसे रोकता है, स्वतंत्र बनाने के लिए।

राजा जा रहा था। रास्ते में देखा—एक बालक मिट्टी से खेल रहा है। बालक को देखकर राजा चकरा गया। कैसा सौम्य! कितना सुंदर! चेहरे पर शांति झलक रही है! वह स्तब्ध रह गया। घोड़े से नीचे उतरा। बालक के पास गया और बोला—'ओ बच्चे! तुम मिट्टी से खेल रहे हो!'

बालक ने सहजता से उत्तर दिया—'यह मिट्टी का पुतला मिट्टी से ही खेलेगा और किससे खेलेगा?'

राजा यह सुनकर दंग रह गया। उसने सोचा—क्या यह एक बालक का उत्तर हो सकता है?

कोई-कोई बालक ऐसा होता है, जिसके बारे में कल्पना करना भी कठिन हो जाता है, बड़े लोग भी उसके सामने झुक जाते हैं। राजा भी उसके सामने झुक गया।

राजा बोला—'बच्चे! तुम बड़े अच्छे लगते हो। मेरे साथ महल में चलो।'

राजा को गौर से देखकर बालक बोला—'तुम कौन हो?'

'मैं राजा हूं।'

'अच्छा! राजा हो और महल में ले जाना चाहते हो?' बालक ने कहा।

'हां।' राजा बोला।

'मैं महल में जा सकता हूं पर मेरी दो शर्तें हैं। पहली शर्त है—तुम निरंतर मेरे साथ रहो तो मैं महल में जा सकता हूं। दूसरी शर्त है—मैं सोऊं और तुम जागते रहो तो मैं तुम्हारे साथ जा सकता हूं।' बालक का उत्तर था।

'यह मेरे लिए संभव नहीं है कि मैं निरंतर तुम्हारे साथ रहूं, तुम सोओ और मैं जागता रहूं।' राजा ने कहा।

'इस स्थिति में मेरे लिए भी जाना संभव नहीं है। मेरा प्रभु निरंतर मेरे साथ रहता है। जब मैं सोता हूं, मेरा प्रभु जागता रहता है। उसको छोड़कर मैं तुम्हारे साथ जाने जैसी मूर्खता नहीं करूंगा।' बालक ने प्रत्युत्तर दिया।

राजा हक्का-बक्का रह गया। वह आगे बोल ही नहीं सका।

जो व्यक्ति निरंतर अपने प्रभु को साथ रखता है, उसका छंद बिलकुल स्वतंत्र होता है। उसे कोई बाध्य नहीं कर सकता, परतंत्र नहीं बना सकता और महल में कैद भी नहीं कर सकता। वह प्रभु है—हमारी उपयोग-चेतना। जिसकी चेतना निरंतर जागती है, उपयोग निरंतर जागता रहता है—वह पूर्ण स्वतंत्र है। उसे कोई परतंत्र नहीं बना सकता। उसके लिए छंद का उपदेश ही नहीं है। छंद-निरोध का उपदेश उस व्यक्ति के लिए है जो क्षण-भर में क्रोध कर लेता है, क्षण-भर में आवेश में चला जाता है, क्षण-भर में हीनता या अहंकार की भावना में चला जाता है और कभी लोकवाद में चला जाता है। उसके लिए कहा गया—'छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं'—छंद का निरोध करो, मोक्ष मिलेगा। मोक्ष का अर्थ है—पूरी स्वतंत्रता।

छंद-निरोध के अर्थ को सम्यक् समझना जरूरी है। स्वतंत्रता की सीमा का सही बोध आवश्यक है। स्वतंत्रता की अर्हता पाए बिना स्वतंत्र बनने का प्रयत्न जीवन के विकास में बाधक बन जाता है। स्वतंत्र होने की योग्यता पाए बिना स्वतंत्र होने का अर्थ है—परतंत्रता को निमंत्रण देना। स्वतंत्रता की अर्हता को पाने वाला ही स्वतंत्रता का भार उठा सकता है।

बहुत कठिन है वासनात्मक छंद का निरोध करना। अभ्यास के बिना इसका निरोध संभव नहीं है। दीर्घश्वास का अभ्यास छंद-निरोध का सशक्त माध्यम है। एक व्यक्ति ने पहले दिन पांच मिनट दीर्घश्वास का प्रयोग किया, दूसरे दिन छह मिनट दीर्घश्वास का प्रयोग किया, तीसरे दिन सात मिनट दीर्घश्वास का प्रयोग किया। इस प्रकार जैसे-जैसे दीर्घश्वास का प्रयोग बढ़ता चला जाएगा, छंद का निरोध होता चला जाएगा। दीर्घश्वास नियंत्रण करने वाला है। उसमें आश्चर्यकारक नियामक शक्ति है। जिस व्यक्ति ने दीर्घश्वास का प्रयोग किया है, उसमें वासनात्मक छंद को रोकने की शक्ति उद्भूत हुई है।

प्रश्न है आस्था का। प्रयोग या अभ्यास के प्रति आस्था का होना आवश्यक है। प्रयोग के साथ आंतरिकता नहीं जुड़ेगी, उसे हृदय से स्वीकारा नहीं जाएगा, तब तक परिवर्तन की बात संभव नहीं। प्रयोग का मूल्य क्या है? वह क्यों किया जा रहा है? उसका क्या उपयोग है? उसके द्वारा छंद पर नियंत्रण पाया जा सकता है, छंद का निरोध किया जा सकता है। जब तक यह आस्था गहरी और प्रबल नहीं जागेगी, तब तक इसका पूरा उपयोग नहीं हो सकेगा। कुछ लोगों में आस्था सहज नहीं होती, किंतु उसे पैदा किया जा सकता है, किया जाता है।

यदि अभ्यास में आस्था नहीं जग रही है तो उसे जगाना चाहिए। जब प्रयोग एवं अभ्यास के प्रति आस्था जागेगी, दीर्घश्वास का प्रयोग सधने लगेगा, छंद-निरोध का अर्थ भी स्पष्ट समझ में आएगा, मोक्ष का अर्थ भी प्रस्तुत हो जाएगा। ❖

क्या यह वही देश है जिस के दर्शन ने व्यक्तिमात्र को ब्रह्म का प्रतिरूप माना था? वही देश है जहां नारी को शक्ति माना जाता था और उस की पूजा को एक सामाजिक आदर्श बताया गया था? क्या यह वही देश है जहां वर्द्धमान महावीर ने जीवदया का सिद्धांत प्रतिपादित किया था और अहिंसा को परम धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया था? वही देश जिस में गौतम बुद्ध का महाकरुणा का सिद्धांत जनमा और पल्लवित-पुष्पित हुआ था? क्या यह वही देश है जहां के दरिद्र समुदाय में गांधी ने नारायण के दर्शन किए थे? आज तो सब-कुछ बदला-बदला नजर आता है, पुराना कुछ पहचाना ही नहीं जाता, हिंसा मनोरंजन बन गई है, क्रूरता उस का अलंकरण। ब्रह्म को ब्रह्म क्षत-विक्षत कर रहा है, खा रहा है। नारी के प्रति आदर छेड़-छाड़ में अभिव्यक्त होता है। उस का चरम उत्कर्ष है बलात्कार। कम दहेज को निमित्त बनाकर कितनी स्त्रियां सताई जाती हैं या जलाई जाती हैं। यही है नारी का सम्मान, उसकी पूजा?

—डॉ. श्यामाचरण दुबे

क्या आत्मा अमर है

❑ स्वामी विवेकानंद ❑

ऐसा कौन प्रश्न है जो सबसे अधिक बार इस संसार में पूछा जा चुका है? ऐसा कौन-सा विचार है जिसने मनुष्य को इस जगत् में उसका समाधान पाने के लिए, खोज करने को सबसे अधिक प्रवृत्त होने में उत्तेजित किया है? कौन-सा प्रश्न सबसे अधिक प्रिय और हितकर है, कौन-सा प्रश्न हमारी सत्ता से इतना घनिष्ठ संबंध रखता है कि हमसे कभी छूट नहीं सकता?

वह प्रश्न है—क्या मनुष्य की आत्मा अमर है? कवि और महर्षि, पुरोहित और पैगंबर—सबका ध्यान इस पर गया है। बड़े-बड़े राजा-महाराजों ने इस पर विचार किया है और गली-गली में भीख मांगने वालों ने इसका स्वप्न देखा है। बड़े-बड़े महात्माओं ने इसे हाथ में लिया है और पापी से पापी तक ने इसके लिए इच्छा की है। इस विषय से मनुष्यों का अनुराग उचट नहीं गया है और न जब तक मनुष्यों की प्रकृति बनी है—वह उचटेगा। इस संसार के भिन्न-भिन्न लोगों ने इसका भिन्न-भिन्न उत्तर दिया है। इतिहास के प्रत्येक युग में हजारों जन इस पर विचार करने से विरक्त हो चुके, छोड़कर भाग चुके—पर यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों अब तक बना हुआ है। प्रायः हम अपने संसारी झगड़ों और झमेलों में पड़कर इसे भूले रहते हैं, पर ज्यों ही कोई हमारा इष्ट, मित्र, हित-संबंधी मरता है, त्यों ही इस संसार की सारी बातें क्षण-भर के लिए भूल जाती हैं और हमारी आत्मा में वही पुराना प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इसके पीछे क्या होता है? जीवात्मा क्या हो जाती है?

> ‘जहां दो हैं—वहीं भय है, वहीं शंका है, वहीं झगड़ा है, वहीं विरोध है। जब सब एक ही है, तो घृणा किससे; विवाद किससे। जब वही सब-कुछ है, तो वैर-विरोध किससे? इससे जीवन के सच्चे स्वरूप का बोध हो जाता है। इसी से सत्ता की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान होता है। यही पूर्णता है। यही ईश्वर है। जब तक हमको अनेक भासमान होते हैं, हम भ्रम में हैं। इस नानात्व में जो एकत्व को देखता है, इस विकारी संसार में जो निर्विकार को, जो आत्मा की भी आत्मा है—देखता है और उसे अपना स्वरूप समझता है—वही मुक्त है, कल्याण का भाजन है, वही आप्तकाम है।’

जो-कुछ ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है वह अनुभवजन्य है, बिना अनुभव के तो ज्ञान होता ही नहीं। हमारे सारे तर्कों का आधार अनुभूत विषयों का साधर्म्य है और हमारा सारा ज्ञान केवल एकीभूत अनुभवमात्र ही है। हमें अपने चारों ओर देखने से क्या दिखाई पड़ता है? लगातार परिवर्तन। पौधा बीज से उत्पन्न होता है, फिर वही बीज बढ़कर पौधा हो जाता है, पौधा बढ़कर वृक्ष बनता है और चक्कर पूरा करके फिर बीज हो जाता है। पशु उत्पन्न होता है, कुछ दिन जीता है और मर जाता है, उसका चक्र पूरा हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपना चक्र पूरा करता है। पर्वत धीरे-धीरे घिसता जाता है, नदियां सूखती जाती हैं, मेघ समुद्र से उठता है और अंत को पानी के रूप में समुद्र में ही लौट जाता है। सर्वत्र चक्र पूरा हो रहा है। जन्म, वृद्धि, उपचय और क्षय ठीक गणित के क्रम के अनुसार एक के अनंतर एक आया करते हैं। यह हमारा नित्य का अनुभव है। इस सब में, इस समस्त समूह में जिसे हम जीवन कहते हैं, करोड़ों आकृतियों और रूपों में, करोड़ों भिन्न-भिन्न प्रकारों में, अणु से लेकर आध्यात्मिक पुरुष तक सब की ओट में हमें एक साम्य दिखाई पंड़ता है। हम इसे एकत्व कहते हैं। हम नित्य देखते जाते हैं कि भेद की दीवाल, जिससे एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होता था, मिटती जा रही है।

आधुनिक विज्ञान में प्रकृति या जड़-अचेतन एक मूल प्रकृति निश्चित होती जा रही है, जो भिन्न-भिन्न प्रकार से नाना रूपों में अभिव्यक्त होती सिद्ध होती है। यही प्रकृति एक जीवन है, जो सब अभिव्यक्तियों में एक अखंड शृंखला की तरह चला आ रहा है। नानारूप उसकी न्यारी-न्यारी कड़ियां हैं, कड़ी के पीछे कड़ी अनंतता तक चली गई है, किंतु कड़ियां सब एक ही शृंखला की हैं। इसी को हम लोग विकास या आरोह

कहते हैं। यह बड़ा पुराना विचार है, इतना पुराना जितना कि मनुष्य समाज है, अंतर केवल इतना ही है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य ज्ञान में उन्नति करता जाता है, यह नित्य-नूतन रूप धारण करता जाता है। पर इसमें एक बात रह गई है, जिसे आगे के लोगों ने तो समझा था, पर आधुनिक समय के लोगों के ध्यान में अभी तक स्पष्ट नहीं आई है। वह अवरोह है। बीज से वृक्ष होता है, बालू के कण से वृक्ष नहीं उत्पन्न होता। पिता से पुत्र होता है, मिट्टी का डला लड़का नहीं हो जाता। प्रश्न यह है कि यह आरोह किससे होता है? बीज क्या था? वह वही था—जो वृक्ष है, भावी वृक्ष की सारी संभावनाएं बीज-कोश में तिरोहित रहती हैं। यह वही है जिसे भारतवर्ष के प्राचीन दार्शनिकों ने अवरोह का नाम दे रखा था।

हम देखते हैं कि प्रत्येक आरोह के पहले अवरोह लगा रहता है। कोई वस्तु जो पहले कहीं पर नहीं रहती है, वहां से फूटकर नहीं निकल सकती। यहां हमारे लिए आधुनिक विज्ञान सहायक होता है। आपको गणित की उपपत्तियां विदित हैं कि उस शक्ति की मात्रा, जो सारे विश्व में सर्वत्र व्याप्त हो रही है, सदा समान रहती है। विश्व में से अणु-भर द्रव्य और रत्ती-भर शक्ति कम नहीं कर सकते, न विश्व में अणु-भर द्रव्य और रत्ती-भर शक्ति अधिक कर सकते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि शून्य से तो आरोह होगा नहीं। फिर वह होता कहां से है? पूर्व के अवरोह ही से। बच्चा मनुष्य ही का संकुचित रूप है और मनुष्य उसी का विकसित रूप है। बीज वृक्ष का सूक्ष्म रूप है और वृक्ष बीज का स्थूल रूप है। जीवन की सारी संभावनाएं उसके कारण या बीज में रहती हैं। इसके साथ जीवन के सतत प्रवाह के भाव को लगा दीजिए। क्षुद्र से क्षुद्र एकेंद्रिय जंतु से लेकर उच्च-से-उच्च आप्त मनुष्य तक मिलकर सब एक जीवन है। जिस प्रकार हमारे एक ही जन्म में अभिव्यक्ति की अनेक भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं, वही एकेंद्रिय जंतु बढ़कर बच्चा हो जाता है, फिर कुमार, युवा, वृद्ध होता है, उसी प्रकार उसी प्रोटोप्लाज्म या एकेंद्रिय जंतु से आप्त पुरुष तक एक जीवन पूरा होता है और एक जंजीर पूरी होती है। इसे विकास कहते हैं।

पर हम देख चुके हैं कि प्रत्येक विकास के साथ संकोच या अवरोह लगा रहता है। इस जीवन की समष्टि प्रोटोप्लाज्म या एकेंद्रिय जंतु से आरंभ होती है और क्रमशः व्यक्त होते-होते आप्त पुरुष में, जिसे ईश्वरावतार कहते हैं, अंत को पहुंचाती है और यह सारी श्रृंखला मिलकर एक पूरा जीवन बनता है। ये सारी अभिव्यक्तियां संकुचित होकर उसी सूक्ष्मरूप में समाविष्ट रही होंगी जिसे हम प्रोटोप्लाज्म या एकेंद्रिय जंतु कहते हैं। यह समूचा जीवन अर्थात् वही ईश्वर, उसमें गुप्त रूप से सन्निविष्ट या अंतर्हित था और उसमें से अपने को धीरे-धीरे व्यक्त करता हुआ प्रकट हुआ। उसकी यह अभिव्यक्ति इतनी धीमी थी कि उसका अनुभव बड़ी कठिनता से हो सकता था। सर्वोच्च अभिव्यक्ति पहले तो बीज ही में बहुत ही सूक्ष्म रूप से रही होगी, अतः यह सारी लड़ी या श्रृंखला उसी सृष्टि के जीवन का, जो चारों ओर प्रकट हो रहा है, एक संकुचित रूप या अवरोह अवश्य है। यह वही चेतनता की समष्टि है जो एकेंद्रिय जंतु से लेकर आप्त पुरुष तक धीरे-धीरे अपने को प्रकट कर रही है या विकसित हो रही है। यह बढ़ती नहीं, केवल अपने हाथ-पैर फैलाती है। अपने मन से बढ़ने के सारे भावों को निकाल दीजिए। बढ़ने का साधारण अभिप्राय यही है कि कुछ बाहर से लेकर जमा करना या बाह्य पदार्थों से कुछ बढ़ना। इससे सत्य में बाधा पड़ेगी कि जो नित्य-सत्ता सब में ओतप्रोत हो रही है उसमें कोई बाह्य परिणाम नहीं आ सकता। वह बढ़ती नहीं है, वह सदा सब में है और केवल अभिव्यक्त होती है।

कार्य केवल व्यक्त कारण मात्र है। इसके अतिरिक्त कार्य और कारण में कोई विशेष अंतर नहीं है। उदाहरण के लिए कांच को ले लीजिए। यह पहले केवल द्रव्य मात्र ही था। वही द्रव्य बनाने वाले की इच्छा के साथ मिला और वे दोनों ही इसके कारण बन गए और कांच में वर्तमान हैं। यदि पूछो कि किस रूप में, तो उत्तर है कि संघात रूप में। यदि इसमें शक्ति का योग न होता तो इसके अणु-अणु अलग हो जाते और जमे या मिले न रह सकते। फिर कार्य क्या ठहरा? वह केवल कारण ही है, केवल रूप में अंतर पड़ गया, केवल योग ही में अंतर ठहरा। जब कारण में विकार होता है और वह कुछ काल के लिए रहता है तब कार्य की उत्पत्ति होती है। हमें इसका ध्यान रहना चाहिए। अब यदि हम इस नियम को अपने जीवन संबंधी विचार पर लगाते हैं तो सारी अभिव्यक्तियां, जो इस जीवन की इस कड़ी में दिखाई पड़ती हैं, एकेंद्रिय जंतु से आप्त-पुरुष तक, सब की सब वही हैं जिन्हें हम सर्वगत जीवन कहते हैं। पहले वही संकुचित रूप में होकर सूक्ष्म दशा को प्राप्त हुआ और फिर उस सूक्ष्म दशा से जो कारण रूप थी, अभिव्यक्त, विकसित होते-होते स्थूल होता गया है।

पर अमरत्व के प्रश्न का अभी तक निर्धारण नहीं हुआ। हम यह तो देख चुके हैं कि विश्व के सारे पदार्थ नाश-रहित हैं। कोई नई चीज नहीं है और न कोई चीज नई होगी। अभिव्यक्ति की उसी श्रृंखला का बार-बार आवर्त हुआ करता है, चक्र के समान उसकी गति ऊपर-नीचे—कभी अवरोह, कभी आरोह—चलती रहती है। इस विश्व में गति की दशा लहर के समान है, उठना-गिरना, आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। विश्व के सूक्ष्म रूप से निकलते रहते हैं—विकसित होते, स्थूल रूप धारण करते और अंत को मानों मुरझाकर क्षय को प्राप्त होकर सूक्ष्मरूप धारण करते और सूक्ष्म अवस्था में लय होते रहते हैं। फिर वे सूक्ष्म रूप से प्रकट होते, एक समय तक विकास को प्राप्त होते और फिर अपने कारण में लय हो जाते हैं। यही दशा सारे जीवन की है।

जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति उठती रहती है और अंत को विलीन हुआ करती है। लय किसका होता है? रूप का। रूप छिन्न-भिन्न होता रहता है और फिर बनता है। एक प्रकार से तो पिंड और रूप भी नित्य हैं। कैसे? इसका उत्तर यह है कि मान लीजिए हम कुछ पासे लेते हैं और जब वे फेंके जाते हैं तो वे छ, पांच, तीन और चार के संबंध से पड़ते हैं। हम पासों को लेकर फेंकें और लगातार फेंकते जाएं तो कभी-न-कभी वही दावं या संख्या अवश्य पड़ जाती है। वैसी ही संख्याएं उसी क्रम में आ जाएंगी। अब इस विश्व के एक-एक कण, एक-एक अणु या परमाणु को पासा मान लीजिए और यह मानिए कि वे फेंके जा रहे हैं और प्रत्येक बार उनके भिन्न-भिन्न योग पड़ा करते हैं। संसार के सारे रूप जो हमारे सामने हैं, उन्हीं के योगमात्र हैं। कांच, मेज, पानी का घड़ा इत्यादि मान लीजिए कि एक योग हैं। इस योग का विच्छेद काल से हो जाएगा, पर कभी-न-कभी ऐसा समय आएगा जब वैसा योग फिर बन जाएगा, सारी की सारी बातें वैसी ही हो जाएंगी जैसी कि आज हैं। उस समय हम भी यहां होंगे, यह शरीर भी यहीं रहेगा और इसी विषय पर बातें होंगी। यह घड़ा भी यहीं ज्यों-का-त्यों रहेगा। ऐसा असंख्य बार हो चुका है और असंख्य बार फिर होगा। यह भौतिक रूपों का वही संयोग बार-बार होता रहता है, यह अनादि-काल से होता आ रहा है और अनंत-काल तक होता रहेगा।

इस सिद्धांत से जो अत्यंत उपयोगी परिणाम निकलता है, वह यह है कि इससे अनेक ऐसी बातों के रहस्यों का समाधान हो जाता है, जैसे कि हमने ऐसे लोगों को प्रायः देखा होगा जो दूसरों को देखकर उनके पूर्व-जन्म की बात बतला देते हैं और आगे की होने वाली बातें कह देते हैं। भला जब भविष्य का कोई नियम न हो तब कैसे कोई किसी की भविष्य की बातों को जान सकता है? भूत के कार्य ही बार-बार आगे को हुआ करते हैं और हमें यह दिखाई भी पड़ता है। प्रकृति फेरिस के चक्कर में जंजीर के समान है जो अनादि और अनंत है, छोटी-छोटी गाड़ियां या कोठरियां पिंड या रूप हैं जिनमें नई-नई आत्माएं सवार होती हैं। अतः प्रकृति के भूत और भविष्य को ठीक-ठीक जानना है। हम देखते हैं कि समय-समय पर भौतिक घटनाएं, गणित की रीति, लगातार क्रम से फिर संघटित हुआ करती हैं और वैसे ही योग अनादि काल से लगातार आया-जाया करते हैं। पर यह आत्मा का अमरत्व नहीं है। किसी शक्ति का नाश नहीं होता और न कोई भौतिक द्रव्य नष्ट होते हैं अर्थात् वे शून्य नहीं हो जाते हैं। पर उनका होता क्या है? उनमें लगातार आगे को और पीछे को परिवर्तन होता जाता है और अंत को वे उस कारण में—जहां उनका प्रादुर्भाव हुआ था—लय को प्राप्त हो जाते हैं। गति सरल रेखा की तरह नहीं होती। सबकी गति चक्कर में या वर्तुलाकार होती है, वही सरल रेखा यदि अनंतता तक बढ़ाई जाए तो उसके छोर मिलकर वृत का रूप धारण कर लेते हैं। यदि यही दशा है तो किसी आत्मा की सदा के लिए अधोगति हो नहीं सकती है। सब चक्कर पूरा करते हैं और अपने ठिकाने पर आ जाया करते हैं।

आप और हम और अन्य सब जीवात्माएं क्या हैं? आरोह-अवरोह के विचार में तो यह हम समझ चुके हैं कि आप और हम सब उसी परम चेतनता, परमात्मा, परम जीवन और परम मन के अंश मात्र हैं, जो संकुचित या सूक्ष्मावस्था को प्राप्त था और हम सब अपना चक्कर पूरा करके उसी परम चेतनता को प्राप्त होंगे। परम चेतनता को भगवान कहें, ईश्वर कहें, ईसा कहें, बुद्धदेव कहें, ब्रह्म कहें—इसे वैज्ञानिक लोग शक्ति के रूप में देखते हैं और संशयवादी अनंत और अनिर्वचनीय कहते हैं, हम सब इसी के अंशमात्र हैं।

यह दूसरा विचार है, पर यह पर्याप्त नहीं है, इसमें फिर भी संदेह रह जाता है। यह कहना तो सहज है कि किसी शक्ति का नाश नहीं है। सारी शक्तियां और रूप, जो हमें देख पड़ते हैं, संयोग से उत्पन्न होते हैं। जो रूप हमारे आगे है, वह अनेक घटक भागों से मिल कर बना है, इसी प्रकार प्रत्येक शक्ति भी संयोगज है। यदि हम शक्ति के

वैज्ञानिक विचार को लें और शक्ति को शक्तिराशि अर्थात् विभिन्न शक्तियों को संघात शक्ति कहें तो विभिन्न सत्ता की दशा क्या होगी? जो वस्तु संयोगज है, वह आज या कल अपने भिन्न-भिन्न भागों में विभिन्न हो जाएगी। इस विश्व में जो-कुछ है—द्रव्य या शक्ति के संयोग से उत्पन्न हुआ है, आज नहीं तो कल उसके सब अंश पृथक-पृथक हो जाएंगे। जो कारणों से उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश अवश्य होगा, वह छिन्न-भिन्न हो जाएगा, उसका एक-एक अंश अलग-विलग हो जाएगा और संयोगजात वस्तु अपने घटक पदार्थों के विभिन्न रूप को प्राप्त हो जाएगी। जीवात्मा शक्ति नहीं है और न यह बुद्धि है। यह बुद्धि को बनाने वाली है, बुद्धि नहीं। शरीर को रचने वाली है, शरीर नहीं। ऐसा क्यों? हम देखते हैं कि शरीर जीवात्मा नहीं हो सकता है। क्यों नहीं हो सकता? इसलिए कि शरीर चेतन नहीं है। शव चेतन नहीं होता और न मांस बेचने वाले की दुकान का मांसखंड चेतन है।

चेतनता किसका नाम है? संवेदना शक्ति का। हमें इस पर और गंभीरता से दृष्टिपात करना चाहिए। सामने एक घड़ा है। हम उसे देखते हैं, क्योंकि प्रकाश की किरण घड़े पर पड़कर हमारी आंखों में जाती है और हमारी पुतली के पीछे घड़े के आकार की प्रतिकृति बनाती है और वह हमारे मस्तिष्क में पहुंचती है। फिर भी इतने-भर से हम उसे देख नहीं सकते। जिन्हें प्राणिशास्त्रविद् चेतनवाहक नस या ज्ञानतंत्र कहते हैं, वे इस संस्कार को भीतर ले जाते हैं। इतने पर भी संवेदना नहीं होती है। मस्तिष्क में जो नसों का केंद्र है, वह जब वहां से होकर संस्कार मन तक पहुंचाता है तब मन में संवेदना होती है और संवेदना होते ही हमें सामने घड़ा दिखाई पड़ता है। एक और साधारण उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि आप मेरी बातें बड़ी सावधानी से सुन रहे हैं और आपकी नाक पर एक मच्छर बैठा अपने स्वभावानुसार वेदना पहुंचा रहा है, पर आप सुनने में इतने निरत हैं कि आपको मच्छर के काटने का पता नहीं चलता। इसका कारण क्या है? मच्छर ने आपकी नाक पर कहीं काटा और वहां जो ज्ञानवाहक तंतु थे, उन्होंने वेदना को मस्तिष्क तक पहुंचाया और वहां संस्कार पड़ा, पर आपका मन अन्य काम में लगा था, इस कारण उसमें संवेदना उत्पन्न नहीं हुई और इसीलिए आपको मच्छर का बोध नहीं हुआ।

जब कोई नया संस्कार पहुंचता है और मन में संवेदना नहीं होती, तब हमें उसका बोध नहीं होता, पर ज्योंही मन में संवेदना हुई कि हमें झट ज्ञान हो जाता है। उसी समय हम सुनते हैं, देखते हैं और इंद्रियों के विषय को ग्रहण करते हैं। इसी वेदना के साथ, जैसा कि सांख्यवाले कहते हैं—प्रकाश आ जाता है। हम देखते हैं कि शरीर में प्रकाश नहीं होता, क्योंकि ध्यान न रहने पर उसमें कोई वेदना हो नहीं सकती। कितनी ऐसी घटनाएं भी हुई हैं, जिनमें लोग विशेष अवस्था में ऐसी भाषा को बोलते सुने गए हैं—जिसका उन्हें कभी ज्ञान भी न था। उनके विषय में पीछे अधिक छानबीन करने से जाना गया कि वे लोग जब छोटे थे तब ऐसे लोगों के बीच में रहे थे जो उस भाषा को बोलते थे और उसी का संस्कार उनके मस्तिष्क में बना रहा। वे संस्कार वहां पड़े रहे और किसी कारणवश उस मनुष्य के मन में संवेदना उत्पन्न हुई और प्रकाश आ गया, तब वह मनुष्य उस भाषा को बोलने लगा। इससे यह प्रकट होता है कि केवल मन ही पर्याप्त नहीं है, मन भी दूसरे के हाथ में एक कारणमात्र है। छोटी अवस्था में उस मनुष्य के मन में वह भाषा थी, पर उसे उसका बोध न हुआ; पीछे समय आने पर उसे उसका ज्ञान हो गया।

इससे प्रकट होता है कि मन के परे भी कोई है। जब वह मनुष्य बच्चा था, उस मन के परे वाले ने अपनी शक्ति से काम नहीं लिया; पर जब वही बच्चा बड़ा हुआ, तब उस मन के परे वाले ने उस शक्ति का लाभ उठाया और उसे अपने काम में लिया। अब पहले तो शरीर है, दूसरे मन व बुद्धि है जिसे अंतःकरण कहते हैं, फिर मन से परे जो है, उसे संस्कृत में आत्मा या जीवात्मा कहते हैं। आधुनिक दार्शनिक लोग बुद्धि को मस्तिष्क के अणुओं का परिवर्तनमात्र बतलाते हैं। वे ऐसी घटना को समझ नहीं सकते हैं और उसका संभव होना नहीं मानते हैं। मन का मस्तिष्क से बड़ा घना संबंध है और जब शरीर का नाश होता है—मन का भी नाश हो जाता है। आत्मा प्रकाशक है, मन उसके हाथ का एक कारण है, इसके द्वारा वह बाह्य कारणों को अपने वश में रखता है और इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। बाह्य कारण या इंद्रिय गोलक संस्कार को ग्रहण करते हैं और उन्हें इंद्रियों तक पहुंचाते हैं। आंख, कान आदि केवल इंद्रियों के गोलकमात्र हैं। अंतःकरण अर्थात् मस्तिष्क के भीतर जो इंद्रियों का केंद्र है—वही काम करता है। संस्कृत में इन्हीं केंद्रों का नाम इंद्रिय है, वे संवेदनाओं को मन के पास ले जाती हैं, मन उन्हें और भी आगे अपनी दूसरी अवस्था के पास पहुंचाता है—जिसे संस्कृत में चित्त कहते हैं। वहां संकल्प का रूप धारण कर सबके भीतर मनुष्य की आत्मा के सामने, जो

राजाधिराज और इस शरीर का शासन है, पहुंचती हैं। तब वह उन्हें देखता है और यथोचित आज्ञा देता है। फिर तो मन झटपट इंद्रियों पर और इंद्रियां स्थूल शरीर के ऊपर काम करती हैं। इस सबका सच्चा द्रष्टा, सच्चा शासक, उत्पादक, संचालक और शासक वही जीवात्मा व आत्मा ही है।

हम देखते हैं कि मनुष्य की आत्मा न शरीर है और न बुद्धि। वह संयोगज नहीं हो सकती। कारण यह है कि जो संयोगज है, वह दृष्ट और अनुभूत हो सकता है। जिसे हम न ध्यान ही में ला सकते और न देख ही सकते हैं, जो हमारे परिमाण में नहीं आ सकता है—वह न द्रव्य है, न शक्ति, न कारण है, न कार्य है—वह संयोग नहीं हो सकता है। संयोग का राज्य तो वहां तक ही है, जहां तक हमारे मन और बुद्धि के जगत् का विस्तार है। इसके आगे संयोग हो नहीं सकता। संयोग तो वहीं तक है, जहां तक नियम की प्रवृत्ति है, उसके आगे नियम के अधिकार के बाहर यदि कुछ है तो वह संयोग हो ही नहीं सकता। मनुष्य की आत्मा, परिणाम के नियम के अधीन नहीं है, इसलिए वह संयोगज नहीं। वह नित्य मुक्त और उन सबकी शासक है जो नियम के अधिकार में हैं। उसका नाश नहीं है, क्योंकि नाश तो घटक अंशों में लय होना है। जो संयोगज है ही नहीं, उसका नाश कहां? यह कहना कि वह नाश होता है, निरी मूर्खता की बात है।

हम यह देख चुके हैं कि यह आत्मा द्रव्य और शक्ति और बुद्धि के जगत् से परे है और असंग है। इसीलिए इसका नाश नहीं हो सकता। जिसकी मृत्यु नहीं, उसका जीवन भी नहीं। जीवन और मरण तो एक ही सिक्के के सामने और पीछे के भाग हैं। मृत्यु का दूसरा नाम ही जीवन है, जीवन का नामांतर मृत्यु है। एक प्रकार की अभिव्यक्ति है, जिसे हम जीवन कहते हैं। उसी पदार्थ की दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति वह है—जिसका नाम मृत्यु है। जब लहर ऊपर उठती है, तो हम उसे जीवन कहते हैं और जब वह पिचक जाती है, तब उसे मृत्यु कहते हैं। यदि कोई वस्तु मृत्यु से परे है तो वह स्वभावतः जीवन से भी परे है। जीवात्मा उस विश्वशक्ति का—जो सर्वव्याप्त है—अंशमात्र है। उसी व्याप्त-सत्ता का नाम ईश्वर है। अब हमें यह जान पड़ता है कि आत्मा जीवन और मरण दोनों से परे है। हम न कभी उत्पन्न हुए हैं और न मरेंगे। पर यह जन्म और मरण क्या है, जो संसार में दिखाई पड़ रहा है? यह केवल शरीर से संबंध रखता है, आत्मा तो सर्वगत है। कांच परिमित या बद्ध है, यह सर्वगत नहीं है, कारण यह है, उसे विभु (व्याप्त) होने नहीं देता। यह अन्य पदार्थों के साथ स्थित है और यही कारण है कि वह परिमित है। पर वह जो नियम से परे है, जिस पर औरों का प्रभाव नहीं, वह परिमित कैसे हो सकता है? वह अवश्य सर्वगत होगा। हम इस विश्व में सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। फिर यह सब कैसे होता है कि मैं उत्पन्न हुआ, मैं मर रहा हूं? यह अज्ञान की बातें हैं, नितांत भ्रम हैं। हम न कभी उत्पन्न हुए हैं और न मरते हैं। न कभी जन्म ही था, न है, और न होगा। न आवागमन है और न और कुछ। भला कहां का आना और कहां का जाना! सब थोथी बकवास है। हम सर्वत्र हैं।

फिर आवागमन क्या है? यह सारा भ्रम केवल उस सूक्ष्म शरीर के परिवर्तन के कारण होता है, जिसे हम मन कहते हैं। यह होता रहता है। जैसे बादल की एक धज्जी आकाश में उड़ती जा रही है। ज्यों-ज्यों वह उड़ती जाती है, यह भ्रम होता जाता है कि आकाश चलायमान है। कभी-कभी हम देखते हैं कि बादल उड़ता हुआ चांद पर से निकल जाता है और भ्रम होता है कि चांद चल रहा है। जब रेलगाड़ी में चलते हैं तो आस-पास के खेत भागते हुए दिखाई पड़ते हैं। जब नाव पर चढ़ते हैं तब पानी चलता हुआ दिखाई पड़ता है। सचमुच न हम कहीं से आते हैं, न जन्म हुआ है, और न फिर होगा। हम अनंत, नित्य, परिणामरहित और मुक्तस्वभाव हैं। ऐसा प्रश्न नितांत अप्रासंगिक है और असंबद्ध है। भला मृत्यु कहां हो सकती है, जब जन्म ही नहीं है?

तर्कानुकूल उपसंहार तक पहुंचने के पहले हमें एक और बात मानने की आवश्यकता है। अब अधबीच में ठहर नहीं सकते, दर्शन-शास्त्र के विचारों में अधूरा काम नहीं होता। यदि हम नियम के बंधन से परे हैं तो हम अवश्य सर्वगत, आनंदमय और ज्ञानमय हैं, हममें सारी शक्तियां तथा सारे आनंद हैं। पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि हम इस विश्व के सर्वद्रष्टा और सर्वगत हैं। पर क्या ऐसी सत्ताएं कई हो सकती हैं? क्या ऐसी सर्वगत व्यापक सत्ताएं लाखों, करोड़ों, शंखों हो सकती हैं? कभी नहीं, यह असंभव है। फिर हम सबकी क्या दशा होगी? हम एक हैं, केवल एक ही आत्मा है और वह आत्मा आप हैं। इसी प्रकृति की ओट में वह छिपा है जिसे हम आत्मा कहते हैं। वह एक ही है; वह केवल एक, आनंदमय, सर्वव्यापी, सर्वांतर्यामी, जन्म-मरण से परे एकमात्र सत्ता है। उसी के प्रभाव से आकाश में अवकाश है, वायु चलती है, सूर्य

तपता है और सब जीते हैं, वही प्रकृति में सत्ता है, वही हमारी आत्मा की आत्मा है। सच बात तो यह है कि हम वही हैं, उसमें कोई अंतर नहीं है।

जहां दो हैं—वहीं भय है, वहीं शंका है, वहीं झगड़ा है, वहीं विरोध है। जब सब एक ही है, तो घृणा किससे; विवाद किससे? जब वही सब-कुछ है, तो वैर-विरोध किससे? इससे जीवन के सच्चे स्वरूप का बोध हो जाता है। इसी से सत्ता की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान होता है। यही पूर्णता है। यही ईश्वर है। जब तक हमको अनेक भासमान होते हैं, हम भ्रम में हैं। इस नानात्व में जो एकत्व को देखता है, इस विकारी संसार में जो निर्विकार को, जो आत्मा की भी आत्मा है—देखता है और उसे अपना स्वरूप समझता है—वही मुक्त है, कल्याण का भाजन है, वही आप्तकाम् है।

अतः तत्त्वमसि वाक्य के अर्थ को समझें और यह जानें कि इस विश्व का ईश्वर तू है, वह तू ही है, दूसरा नहीं, मैं दूसरा नहीं। मैं स्त्री हूं, पुरुष हूं, रोगी हूं, निर्बल हूं, सबल हूं, राग करता हूं, द्वेष करता हूं, मुझमें कम शक्ति है, अधिक शक्ति है—इत्यादि सारे भेदज्ञान भ्रममात्र हैं। इनका परित्याग करें। हम निर्बल क्यों हो? भय किसका है? संसार में आप ही आप तो हैं। आपको भय किसका है? सावधान हो जाओ और मुक्त बनो। यह समझ लो कि जिस विचार और शब्द से इस संसार में भय उत्पन्न होता है—केवल वही बुराई है। जिससे मनुष्य में निर्बलता आए, भय लगे—वही बुरी वस्तु है, उसको नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए।

हमें डरा कौन सकता है? सूर्य गिर पड़े, चांद टुकड़े-टुकड़े होकर धूल में मिल जाए, ब्रह्मांड के ब्रह्मांड नाश हो जाएं—इससे हमें क्या पड़ी है? पर्वत की भांति अविचल हैं, हम तो अविनाशी हैं। यह कहें कि हम अनंत सत्ता, अनंत ज्ञान और अनंत आनंद अर्थात् सच्चिदानंद ब्रह्म हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि'। सिंह की भांति—जो अपने पींजड़े को तोड़ डालता है—अपने बंधन तोड़कर नित्य मुक्त हो जाएं। हमें भय किसका है? हम किसके बंधन में हैं? केवल अज्ञान के, भ्रम के; हमारे और कोई बंधन नहीं हैं। हम शुद्ध और आनंदघन हैं।

मूर्ख लोग कहते हैं कि हम पापी हैं और हम कोने में सिर नीचा करके रोते हैं। यह कहना कि हम पापी हैं—मूर्खता है, बुरी बात है, नितांत नीचता है। हम सब ब्रह्म हैं। अपने जीवन को इसी सांचे में ढालें। यदि कोई गला काटे तो 'ना' मत कहें, क्योंकि हम अपने गले पर आप छूरी फेरते हैं।

जब किसी दीन की हम सहायता करें, तब तनिक भी गर्व न करें। वह धर्म है, उसमें गर्व की क्या बात? क्या सारा विश्व 'हम' नहीं हैं? कहां ऐसा कोई है, जो हम नहीं हैं? हम विश्व की आत्मा हैं। हम ही सूर्य हैं, चंद्र हैं, तारा हैं, हम सर्वत्र भासमान हो रहे हैं। सारा विश्व तो हम ही हम हैं। किससे घृणा करें, किससे लड़ें? अतः अब हम चेतें और तत्त्वमसि के वाक्यार्थ को समझें। अपने जीवन को इसी अनुसार चलावें। जो इसे जानता है और अपने जीवन को इसी अनुसार चलाता है, वह कभी अंधकार में नहीं रहता। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

संदर्भ : महावीर का अर्थशास्त्र

आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता

❑ डॉ. ओम कुवेरा ❑

नीतिशास्त्र का उद्गम सभ्यता के प्रारंभकाल से ही माना जाता है। यह दर्शनशास्त्र का वह भाग है जो मानव-आचरण के मूल्यों से संबंधित है। सभ्यता के प्रारंभ से ही मानव ने अपने आचरण को संयत करने के लिए कुछ नैतिक नियमों का सहारा लिया। हम नीतिशास्त्र को एक ऐसी आचारसंहिता कह सकते हैं, जो व्यक्ति को दूसरों के साथ व्यवहार करने के लिए मार्गदर्शन करती है। वस्तुतः नीतिशास्त्र मानवीय व्यवहार एवं निर्णयों के लिए एक ऐसा दस्तावेज है जो व्यक्ति को पवित्र लक्ष्यों एवं साधनों की ओर निर्देशित करता है कि जिससे उसका आचरण मानव जाति के लिए कल्याणकारी बन सके। नीतिशास्त्र अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ कार्यों, निर्णयों तथा साधनों में भी अंतर स्पष्ट करता है।

नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र में गहरा संबंध माना जाता है। नीतिशास्त्र दरअसल धर्मशास्त्र के आदर्श, सिद्धांत एवं मूल्यों को प्राप्त करता है और पर्याप्त परीक्षण के पश्चात् उन्हें आचरण के नियमों के रूप में मान्यता प्रदान करता है। वस्तुतः धर्मशास्त्र ही नीतिशास्त्र का आधार है। कोई भी समाज धार्मिक आदर्शों के बिना सफल नहीं हो सकता। केवल भौतिक प्रगति की चाह मानव को स्थाई गतिशील एवं प्रगतिशील समाज के लिए प्रेरित नहीं कर सकती।

> आधुनिक अर्थशास्त्र एकांगी भौतिकवाद पर आधारित है, जबकि महावीर के अर्थशास्त्र में भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद दोनों को स्वीकारा गया है। आधुनिक अर्थशास्त्र ने एक लक्ष्य बना लिया है—मानव को धनी बनाना। महावीर के अर्थशास्त्र का लक्ष्य है—शांति के साथ मानव अपना जीवन व्यतीत करे, क्योंकि शांति के बिना सुख नहीं। एक ओर धन से मिलने वाला सुख है, दूसरी ओर शांति से मिलने वाला सुख है। महावीर के अर्थशास्त्र का समीकरण होगा—धन की सीमा=शांति+सुख। व्रत, संयम और सीमाकरण के संदर्भ में महावीर के अर्थशास्त्र का विश्लेषण करेंगे तो हम पाएंगे कि जहां व्रत है, संयम है और सीमाकरण है—उस अर्थशास्त्र के केंद्र में मानव रहता है तथा आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता।

यद्यपि नीतिशास्त्र का आर्थिक क्रियाओं के साथ विवादपूर्ण संबंध रहा है, तथापि भारतीय धर्मग्रंथों एवं चिंतकों ने नीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के बीच निकटता का संबंध माना है। उनका मानना है कि कोई व्यवसायी नीतिशास्त्र को अपना करके ही सही रूप में सफलता प्राप्त कर सकता है। इस मत के विचारकों का कहना है कि जिन्हें इस बात की पर्याप्त जानकारी है कि व्यक्ति होने का क्या अर्थ है, वे यह तुरंत जान जाते हैं कि नीतिशास्त्र को अपनाना एवं उसके अनुकूल होना क्यों जरूरी है। नीतिशास्त्र एवं व्यवसाय व्यक्ति और समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। नीतिशास्त्र के माध्यम से व्यक्ति एवं समाज के संपूर्ण ढांचे को व्यावसायिक दृष्टि से व्यवस्थित किया जा सकता है। वर्तमान में आधुनिक, जटिल एवं कुटिल विश्व में सहज प्रवृत्ति और उत्तम भावनाएं ही पर्याप्त नहीं हैं, अपितु साधन और साध्य का अध्ययन भी आवश्यक है।

आधुनिक व्यावहारिक अर्थशास्त्रियों ने नीतिशास्त्र को अर्थशास्त्र का हिस्सा नहीं माना है। वे मानते हैं कि आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता या मूल्यों की कोई आवश्यकता नहीं है। लियानेल रोबिन्स जैसे विचारकों ने तो यहां तक कह डाला कि नीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के बीच केवल विरोध का ही संबंध हो सकता है। इस प्रकार के विचार रखने वाले अधिकांश अर्थशास्त्रियों की मान्यता है कि मानव के आर्थिक जीवन और विकास में उसकी स्वार्थवृत्ति सक्रिय है

तथा इस वृत्ति के पोषण के लिए जो कुछ भी उपयोगी है, वही उचित है। यहां उचित-अनुचित में स्वार्थपूर्ति का महत्त्व है, मूल्यों का नहीं। प्रश्न उठता है कि क्या मानव का आचरण केवल स्वार्थवृत्ति से ही प्रेरित है? या अन्य प्रेरणाएं भी उसे प्रेरित करती हैं?

एडम स्मिथ भी इसी विचारधारा के समर्थक माने जाते हैं। उनका मत भी यही है कि अर्थशास्त्र का आधार मानव की स्वार्थबुद्धि है, जबकि नीतिशास्त्र का आधार मानव में पाई जाने वाली दया और परोपकारी वृत्ति है। इन दोनों वृत्तियों में कभी मेल हो ही नहीं सकता। वे मानते हैं कि अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र परस्पर विरोधी हैं। उन्होंने यह भी मान लिया कि मानव केवल अर्थपरायण है और यह भी कहा कि मानव को अर्थपरायण मानकर जिस अर्थशास्त्र का विचार किया जाए, वही शुद्ध अर्थशास्त्र है। उन्होंने दया, परोपकार, कल्याण आदि वृत्तियों को अर्थशास्त्र का विरोधी बताया।

भारतीय चिंतक आर्थिक क्रियाओं एवं नैतिकता के बीच एक महत्त्वपूर्ण संबंध-सूत्र को स्थापित करने का प्रयास करते हैं। भगवान महावीर उनमें प्रमुख हैं। जैन दर्शन में अर्थशास्त्र का संबंध नीतिशास्त्र से है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने जैन दर्शन के विभिन्न ग्रंथों एवं भगवान महावीर के चिंतन को आधार मानकर 'महावीर का अर्थशास्त्र' नामक पुस्तक की रचना की है। यह पुस्तक हमें जैन दर्शन के आर्थिक चिंतन का तो बोध कराती ही है, साथ ही वर्तमान आर्थिक विषमताओं से उत्पन्न समस्याओं के समाधान से भी अवगत कराती है।

महावीर के आर्थिक चिंतन पर देश के प्रमुख अर्थशास्त्री श्री माणकचंद सिंघी ने भी 'महावीर का अर्थशास्त्र : उत्पादन की प्राथमिकताएं, उपभोग का संयम, विकास की अवधारणा तथा मानवीय संप्रेरणाएं' नामक लेखों के माध्यम से विश्लेषणात्मक विचार रखे हैं। श्री सिंघी के अनुसार अर्थशास्त्र की जैन अवधारणा महावीर से भी पूर्ववर्ती है। यह मान्यता है कि सर्वप्रथम भगवान ऋषभ ने मनुष्य को व्यवसाय का ज्ञान दिया। उनका मत है कि निवृत्तिमूलक जैन धर्म और अर्थ के विवेचन में कोई असंगति नहीं है।

भगवान महावीर ने किसी स्वतंत्र अर्थशास्त्र की रचना नहीं की। अपने प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने अपने विचार रखे और इन्हीं विचारों को आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने विवेचित किया जो 'महावीर का अर्थशास्त्र' के रूप में समग्र एवं सरल भाषा में आम जन तक पहुंचे। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार महावीर के आर्थिक दर्शन में मानव केंद्र में है, अर्थ गौण है। उनका मत है कि अर्थ प्रमुख होगा तो अनैतिकता में वृद्धि होगी, क्योंकि मानव येन-केन-प्रकारेण धन अर्जित करने का प्रयास करेगा। उन्होंने कहा कि यह देखना जरूरी है कि अर्थार्जन में मूल्यों का ह्रास न हो, साधन-शुद्धि बनी रहे। अधिकांश अर्थशास्त्री मूल्यों की बात ही नहीं करते, जबकि महावीर आर्थिक विकास में मूल्यों का ह्रास नहीं हो—इसे अनिवार्य मानते हैं। उनका मत है कि साधन एवं साध्य की पवित्रता के बिना आर्थिक क्रियाएं हिंसा ही पैदा करेंगी।

आधुनिक अर्थशास्त्र एकांगी भौतिकवाद पर आधारित है, जबकि महावीर के अर्थशास्त्र में भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद दोनों को स्वीकारा गया है। आधुनिक अर्थशास्त्र ने एक लक्ष्य बना लिया है—मानव को धनी बनाना। महावीर के अर्थशास्त्र का लक्ष्य है—शांति के साथ मानव अपना जीवन व्यतीत करे, क्योंकि शांति के बिना सुख नहीं। एक ओर धन से मिलने वाला सुख है, दूसरी ओर शांति से मिलने वाला सुख है। महावीर के अर्थशास्त्र का समीकरण होगा—धन की सीमा=शांति+ सुख। व्रत, संयम और सीमाकरण के संदर्भ में महावीर के अर्थशास्त्र का विश्लेषण करेंगे तो हम पाएंगे कि जहां व्रत है, संयम है और सीमाकरण है—उस अर्थशास्त्र के केंद्र में मानव रहता है तथा आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के बहुचर्चित ग्रंथ 'महावीर का अर्थशास्त्र' को आधार बनाकर भारतीय अर्थ-सेवा के वरिष्ठ अधिकारी श्री माणकचंद सिंघी ने हमारे पाठकों के लिए फरवरी, मार्च, अप्रैल और मई, 2004 के जैन भारती अंकों में इसी विषय पर अपने विचार प्रकट किए थे। इसी से जुड़ा श्री चंद्रशेखर व्यास का एक आलेख जैन भारती के जून, 2004 के अंक में प्रकाशित हुआ। हमारे आग्रह पर डॉ. ओम कुवेरा ने भी इसी विषय पर एक आलेख हमें भेजा, जो इस अंक में प्रकाशित है। 'महावीर का अर्थशास्त्र' पर सुधी पाठकों, विद्वानों, लेखकों के विचारों का हम स्वागत करेंगे।

भगवान महावीर कहते हैं कि आर्थिक क्रियाओं की बात करते समय इन बिंदुओं पर विचार अवश्य करें—

- ❑ अहिंसा और साधन-शुद्धि,
- ❑ मूल्यों का ह्रास न हो,
- ❑ स्वार्थ की सीमा हो।

महावीर के अनुसार आर्थिक क्रियाओं में अहिंसा एवं साधन-शुद्धि का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए और व्यावसायिक क्रियाओं में मूल्यों का ह्रास न हो। जब मूल्यों पर आधारित आर्थिक क्रियाएं होंगी तो नैतिकता तो स्वतः ही होगी। भगवान महावीर स्वार्थ की सीमा की बात आर्थिक क्रियाओं में करते हैं। स्वार्थ की सीमा इस बात की ओर ध्यान दिलाती है कि ऐसा स्वार्थ नहीं होना चाहिए जो दूसरों के हितों को आघात पहुंचाए। महावीर ने मानव को अल्पेच्छ बनने की सलाह दी। महावीर का मत है कि अल्पेच्छ मानव अनैतिक नहीं होगा, अपितु वह धर्म के साथ अपनी आजीविका चलाएगा।

भगवान महावीर ने उत्पादन के संदर्भ में भी नैतिकता की बात कही तथा तीन निर्देश दिए :

- ❑ हिंसक शस्त्रों का निर्माण न करना,
- ❑ शस्त्रों का संयोजन न करना,
- ❑ पापकर्म का, हिंसा का प्रशिक्षण न देना।

हम देख रहे हैं कि शस्त्रों के निर्माता शक्तिशाली राष्ट्र विश्व के किसी-न-किसी कोने में युद्ध की चिनगारी सुलगा देते हैं। उनका उद्देश्य अपने हथियारों की खपत है। शस्त्र उद्योग का तो आधार ही युद्ध है। अरबों-खरबों डॉलर से चल रहे ये उद्योग हिंसा की बुनियाद पर खड़े हैं। यदि हम आर्थिक क्रियाओं के केंद्र में मानव को नहीं रखेंगे, नैतिकता को आर्थिक क्रियाओं का आधार नहीं मानेंगे तो हमें विनाश के लिए तैयार रहना चाहिए। नैतिकता के अभाव में व्यवसाई मात्र व्यवसाई न रह कर मौत के सौदागर बनते जा रहे हैं। विक्टर बट इसका उदाहरण है। हथियारों का यह व्यापारी विक्टर बट अपने हथियारों के विक्रय-संवर्द्धन के लिए अफ्रीका में खून-खराबे को बढ़ावा दे रहा है। बट की कई कंपनियां हैं जो युद्ध का सभी प्रकार का सामान बेचती हैं—हथियार से लेकर विमान तक। बट न केवल छोटे, अपितु बड़े-बड़े हथियार व सामरिक प्रणालियां दुनिया के लगभग किसी भी कोने में पहुंचा सकता है। बट तो भाड़े के सैनिक भी उपलब्ध कराता है—युद्ध करने के लिए। यह सही भी है कि अगर युद्ध नहीं होंगे तो हथियार कैसे खपेंगे और हथियार नहीं बिकेंगे तो व्यवसाई को लाभ कैसे होगा? यहां प्रश्न लाभ का है, मानव जाति के कल्याण का नहीं। इसके बरअक्स भगवान महावीर ने अहिंसा के अर्थशास्त्र की बात कही है। आज के परिप्रेक्ष्य में यही बात सटीक है।

आधुनिक अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण है—निजी लाभार्जन, मानव की प्रकृति की उपेक्षा और केवल लाभ की अपेक्षा। इसका परिणाम है—आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता का अभाव, जिसने कई विषमताएं पैदा कर दी हैं। 'एड्स' की दवाओं को जान-बूझकर विकसित देशों ने महंगा कर रखा है। गरीब मरते हैं तो मरें—मुनाफे में कमी नहीं की जाएगी। गरीब देशों के रोगों—जैसे मलेरिया, डेंगू, हैजा आदि रोगों की दवा एवं टीके बनाने पर विकसित देशों की दवा कंपनियां कोई विशेष अनुसंधान नहीं कर रही हैं। क्योंकि इन दवाओं को ये लोग ऊंचे दामों पर खरीद नहीं पाएंगे और अनुसंधान पर किया गया खर्च भी पूरा नहीं हो पाएगा। वर्तमान में जितनी दवाओं का आविष्कार हुआ है उनमें से 99 प्रतिशत धनिक वर्ग के लिए हैं। यह सोच तो यही दर्शाता है कि गरीब को मरने देना ही ठीक है।

अमेरिका के नीति-निर्धारण अध्ययन संस्थान 'रैंड कारपोरेशन' ने सरकार को एक रिपोर्ट दी थी कि अमेरिका को चाहिए कि वह एशियाई और अफ्रीकी लोगों को भूख से मर जाने दे। बाकी बचे लोगों को भी बीमारियों से अकाल मौत मरने दे, क्योंकि वे लोग किसी काम के नहीं—वे धरती पर बोझमात्र हैं। यह संस्थान एक व्यावसायिक संस्थान है, जो विभिन्न विषयों पर अध्ययन करता है। अमेरिकी सरकार इसके ग्राहकों में से है। जब मानव के स्थान पर अर्थ केंद्र में होगा तो नैतिकता की बात करना बेमानी है।

भगवान महावीर ने इस प्रकार की अनैतिक आर्थिक क्रियाओं का समर्थन नहीं किया। महावीर ने कहा—उत्पादन की सीमा करो। हर चीज का उत्पादन न हो, मादक वस्तुओं एवं शस्त्रों का न उत्पादन हो और न उपयोग ही हो। महावीर ने आर्थिक क्रियाओं में अहिंसा और शांति को महत्त्व दिया है। उन्होंने व्रती समाज की बात कही, जिसमें स्वामित्व के सीमाकरण को प्रमुखता दी गई है। जब व्यक्तिगत स्वामित्व सीमित होगा तो लालसा बढ़ेगी ही नहीं। उन्होंने व्यक्तिगत उपभोग के सीमाकरण की बात भी कही। सीमाकरण ही नैतिकता का आधार होगा तथा समाज को सुखी, स्वस्थ एवं शांत जीवन प्रदान करेगा।

भारतीय चिंतन में सबसे अधिक बल साधन-शुद्धि पर दिया गया है। महावीर ने कहा—साधन-शुद्धि नहीं है तो कुछ भी काम्य नहीं है। मनसा, वाचा, कर्मणा हमारा साधन शुद्ध होना चाहिए। भगवान महावीर ने 'इच्छा का परिमाण' सिद्धांत के द्वारा आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता लागू करने की बात कही। महावीर का मत है कि 'इच्छा का परिमाण नहीं करने वाला मानव अधर्म से आजीविका कमाता है और इच्छा का परिमाण करने वाला मानव धर्म से आजीविका कमाता है।' धर्म या अधर्म से आजीविका कमाने में आर्थिक परिस्थितियां निमित्त बनती हैं, किंतु उनका उपादान कारण अनासक्ति तथा धर्म-श्रद्धा का तारतम्य है।

इच्छा-परिमाण के प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं—

- न गरीबी, न विलासिता का जीवन।
- धन आवश्यकतापूर्ति का साधन है, साध्य नहीं। धन मानव के लिए है, मानव धन के लिए नहीं।
- आवश्यकता की संतुष्टि के लिए धन का अर्जन हो, किंतु दूसरों को हानि पहुंचाकर अपनी आवश्यकता की संतुष्टि न हो।
- आवश्यकताओं, सुख-सुविधाओं और उनकी संतुष्टि के लिए साधन एवं धन-संग्रह की सीमा का निर्धारण।
- धन के प्रति उपयोगिता के दृष्टिकोण का निर्माण, संगृहीत धन में अनासक्ति का विकास।
- धन के संतुष्टि-गुण को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उसकी असारता का अनुचिंतन।
- विसर्जन की क्षमता का विकास।

वस्तुतः इच्छा का परिमाण आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता लागू करने में एक महत्त्वपूर्ण घटक है।

भगवान महावीर के चिंतन से प्रभावित विचार ही महात्मा गांधी के रहे हैं। आर्थिक क्रियाओं में मूल्यों की आवश्यकता को महात्मा गांधी भी स्वीकारते हैं। महात्मा गांधी का कहना है—'सच्चा अर्थशास्त्र कभी उच्चतम नैतिक मानकों का विरोधी नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि सच्चा नीतिशास्त्र वही माना जा सकता है जो नीतिशास्त्र होने के साथ-साथ अच्छा अर्थशास्त्र भी हो। वह अर्थशास्त्र झूठा और निराशाजनक है, जो कुबेर की पूजा को प्रश्रय देता हो और शक्तिशाली लोगों को दुर्बल लोगों की कीमत पर धन-संचय करने में मदद करता हो। वह तो मौत का पैगाम है। इस के विपरीत सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय सुनिश्चित करता है। दुर्बलतम व्यक्तियों सहित सबकी भलाई को बढ़ावा देता है।' महात्मा गांधी का मत है कि आर्थिक विचार करते समय धर्म एवं नीति को भी ध्यान में रखना चाहिए अर्थात् मानव जाति के श्रेष्ठ कल्याण का विचार अर्थशास्त्रियों को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। उनका मत है कि किसी भी उद्योग की उपयोगिता का माप उसके आर्थिक लाभ से नहीं किया जाना चाहिए, अपितु उस उद्योग के कारण समाज को मिलने वाले लाभों से किया जाना चाहिए।

महात्मा गांधी ने प्रचलित अर्थव्यवस्थाओं के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से एक आर्थिक कार्यक्रम दुनिया के सम्मुख रखा। यह आर्थिक दर्शन वस्तुतः उनके समग्र अहिंसा दर्शन का ही हिस्सा है। शोषणरहित समाजोपयोगी अर्थव्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य से ही गांधीजी ने 'ट्रस्टीशिप' पर बल दिया। यह सिद्धांत केवल आदर्श-मूलक प्रस्तावना नहीं है। गांधीजी इसे व्यावहारिक सिद्धांत बनाना चाहते थे। लोभ और अंधाधुंधीकरण के विरुद्ध प्रेम कायम करना ही गांधीजी के आर्थिक दर्शन की मूल प्रेरणा रही है।

गांधीजी के 'ट्रस्टीशिप' सिद्धांत का मूल सार यह है कि समस्त संपत्ति समाज की है। पूंजीपतियों को चाहिए कि वे इस संपत्ति के प्रति अपने-आप को समाज का 'ट्रस्टी' मानें। 'ट्रस्टी' के रूप में वह इन साधनों का उपयोग समाज एवं राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर करें। यह सिद्धांत तो आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता का समावेश स्वतः ही कर देता है।

आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता का समर्थन करने वाले भारतीय अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन का मत है कि अर्थशास्त्रीय विश्लेषण में नीतिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। सेन के विचारों का मुख्य आधार यह रहा है कि अर्थशास्त्र के उस स्वरूप को, जो धीरे-धीरे उभर कर सामने आया है, किस प्रकार नीतिशास्त्रीय विचारणीय बातों पर अलग से तथा विशेष ध्यान देकर अधिक उत्पादक एवं उपयोगी बनाया जा सकता है। नीतिशास्त्र की कुछ प्रमुख विचारणीय बातें मानवीय व्यवहार एवं निर्णय को प्रभावित करती हैं और सेन इस बात पर विशेष बल देते हैं कि कल्याणकारी अर्थशास्त्र के मूल्यांकन में नीतिशास्त्र की

विचारणीय बातों का समावेश व्यक्तिगत व्यवहार को सही रूप देने में महत्त्वपूर्ण एवं प्रत्यक्ष प्रभावशाली होगा।

सामान्यतया अर्थशास्त्रीय चिंतन में व्यक्ति को उसके उपयोगिता कार्य को अधिकतम करने तक सीमित किया गया है तथा यह भी माना है कि वह व्यक्ति किस प्रकार स्वयं के कल्याण, लक्ष्यों एवं पसंद तक सिमट कर रह गया है। इसीलिए व्यक्ति का व्यवहार स्वयं के हित-पोषक व्यवहार के रूप में ही देखने को मिलता है। अमर्त्य सेन इन बातों की सीमाओं से परे सोचते हैं। उनका मत है कि मानवीय व्यवहार अंतिम रूप से एक सामाजिक मामला है। किसी व्यक्ति को अपने आर्थिक हितों की अभिवृद्धि एवं उन्हें अधिकाधिक करने से पूर्व यह चिंतन करना आवश्यक है कि दूसरे लोगों का लक्ष्य, उनका कल्याण एवं पारस्परिक आश्रितता क्या है? अमर्त्य सेन ने अपने चिंतन में मूल्यबोध को केंद्र में रखा है। यह मूल्यबोध ही मानव-कल्याण की ओर ध्यान आकर्षित करता है। यह तर्क दिया जाता है कि अर्थशास्त्र के दो मूल स्रोत हैं और ये दोनों ही राजनीति से जुड़े हुए हैं, लेकिन इनमें से एक नीतिशास्त्र से संबद्ध है तथा दूसरा अभियांत्रिकी पहलू से। सेन का यह कथन अरस्तू के विचारों से मेल खाता है, जो कहते हैं कि अर्थशास्त्र अंततः नीतिशास्त्र से संबंधित है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी तत्त्व मीमांसा, पराभौतिक एवं गलत और सही के ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है, जो वस्तुतः नीतिशास्त्र का ही अभिन्न अंग है। भारतीय चिंतक इस मत का समर्थन करते हैं कि अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र—दोनों का उद्देश्य मानव जाति की प्रगति और कल्याण करना ही है। इसलिए दोनों के बीच घनिष्ठ संबंध हैं। वस्तुतः भारतीय चिंतक आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता को आवश्यक मानते हैं तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान में नैतिक आधारों के उपयोग की बात करते हैं। महात्मा गांधी तो यहां तक कहते हैं—'जो अर्थशास्त्र किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र के विकास अथवा कल्याण में रुकावट डालता है...और जो एक देश को दूसरे देश में लूट चलाने की छूट देता है—वह अर्थशास्त्र अनीतिमय है, पाप-रूप है।'

भगवान महावीर आर्थिक क्रियाओं में साधन-शुद्धि, मूल्यों की रक्षा, स्वार्थ की सीमा के साथ-साथ अहिंसा की अनिवार्यता पर बल देते हैं तथा येन-केन-प्रकारेण की प्रवृत्ति से दूर रहने की सलाह भी देते हैं। उनका मत है कि अर्थशास्त्र को सिर्फ अर्थोत्पादन का शास्त्र मानकर ही विचार नहीं करना चाहिए। अर्थशास्त्र को मानव की प्रगति और कल्याण का विचार करने वाला शास्त्र मानना चाहिए। यदि हम ऐसा मानेंगे तो सच्ची अर्थ-प्रवृत्ति और सच्चा अर्थ-लाभ होगा, जो नीतिशास्त्र का कभी विरोधी नहीं होगा।

आधुनिक व्यवहारवादी अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक क्रियाओं को नैतिकता से अलग रखकर ही विचार किया। उनके चिंतन में मानव-कल्याण की कोई बात नहीं है। उनका लक्ष्य तो लाभ है। वह लाभ चाहे शराब बेचकर हो या शस्त्र बेचकर। वस्तुतः आधुनिक अर्थशास्त्र का तो जन्म ही हिंसा से माना जाता है। भगवान महावीर के आर्थिक चिंतन का आधार अहिंसा है जो मानव के कल्याण की बात करता है, साधन एवं साध्य की पवित्रता की बात करता है, स्वार्थ की सीमा की बात करता है तथा इन सबके लिए नैतिक आचरण को अपनाने की अनिवार्यता पर बल देता है। महावीर का आर्थिक दर्शन वस्तुतः अहिंसा का अर्थशास्त्र है जो हमें वर्तमान आर्थिक समस्याओं के सच्चे समाधान का रास्ता दिखाता है। ❖

कैसे गोरख धंधे में मनुष्य फंसा हुआ है? जिस बात के लिए सारे काम करता है, वही बात गौण हो जाती है और उसके लिए जो कुछ किया जाता है—वह मुख्य बन जाता है! अगर मनुष्य रोजमर्रा की बातों पर ध्यान दें, जीवन जीना वह सीख जाए, जीवन की कला में प्रवीण हो जाए, तो जिन्हें वह 'बड़े' काम समझता है और जो उसे मुश्किल मालूम होते हैं, वे काम उसके लिए आसान हो जाएं। पर वह समझता है कि छोटी-छोटी बातों में क्या वक्त बरबाद करना!

काश, हम इन छोटी बातों के महत्त्व को समझते!

सिद्धराज ढड्ढा

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा

प्रधान कार्यालय, कोलकाता

(उपासक विभाग, गंगाशहर)

उपासक प्रशिक्षण शिविर, 2004

प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी उपासक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन दिनांक 31-8-2004 से 8-9-2004 तक सिरियारी में पूज्यवरों की पावन सन्निधि में किया जाना निश्चित हुआ है। इस शिविर में उन्हीं व्यक्तियों को प्रवेश दिया जा सकेगा जो निम्नलिखित अर्हताएं पूरी करते हों—

(1) शिविरार्थी जैन धर्म एवं तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति आस्थावान हो।

(2) शिविरार्थी की आयु सीमा 25 वर्ष से 60 वर्ष तक होनी चाहिए।

(3) कंठस्थ ज्ञान में अर्हत् वंदना, परमेष्ठी वंदना, पंचपद वंदना व पचीस बोल याद होने चाहिए।

(4) परिषद् के बीच बोलने व गाने की क्षमता अथवा उसके विकास की संभावना होनी चाहिए।

(5) शिविरार्थी स्वस्थ एवं श्रमशील हो।

(6) जो व्यक्ति सामान्यतया अग्रिम वर्ष से 2-3 सप्ताह का समय संघ-सेवा में देने की स्थिति में हो।

इस शिविर का मुख्य उद्देश्य है प्रशिक्षित उपासक तैयार करना जो केंद्र द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र में जाकर पर्युषण पर्व की आराधना करवाने में श्रावक समाज के सहयोगी बन सकें। विशेषकर उन क्षेत्रों में, जहां साधु-साध्वियों का चातुर्मास नहीं होता। ऐसे क्षेत्र पर्युषण पर्व की आराधना हेतु उपासकों को भिजवाने का निवेदन महासभा अथवा केंद्र में कर सकते हैं, जिसके आधार पर उपासकों को भिजवाने की यथासंभव व्यवस्था केंद्र द्वारा की जाती है।

शिविर में भाग लेने वालों के लिए आवास, भोजन, साहित्य व प्रशिक्षण का समुचित प्रबंध महासभा की ओर से निःशुल्क किया जाएगा। पहले से भाग ले चुके उपासकों के पास जो साहित्य है, वे उसे अपने साथ अवश्य लाएं।

निर्मलकुमार नौलखा

राष्ट्रीय सह-प्रभारी, उपासक श्रेणी

अनुभूति

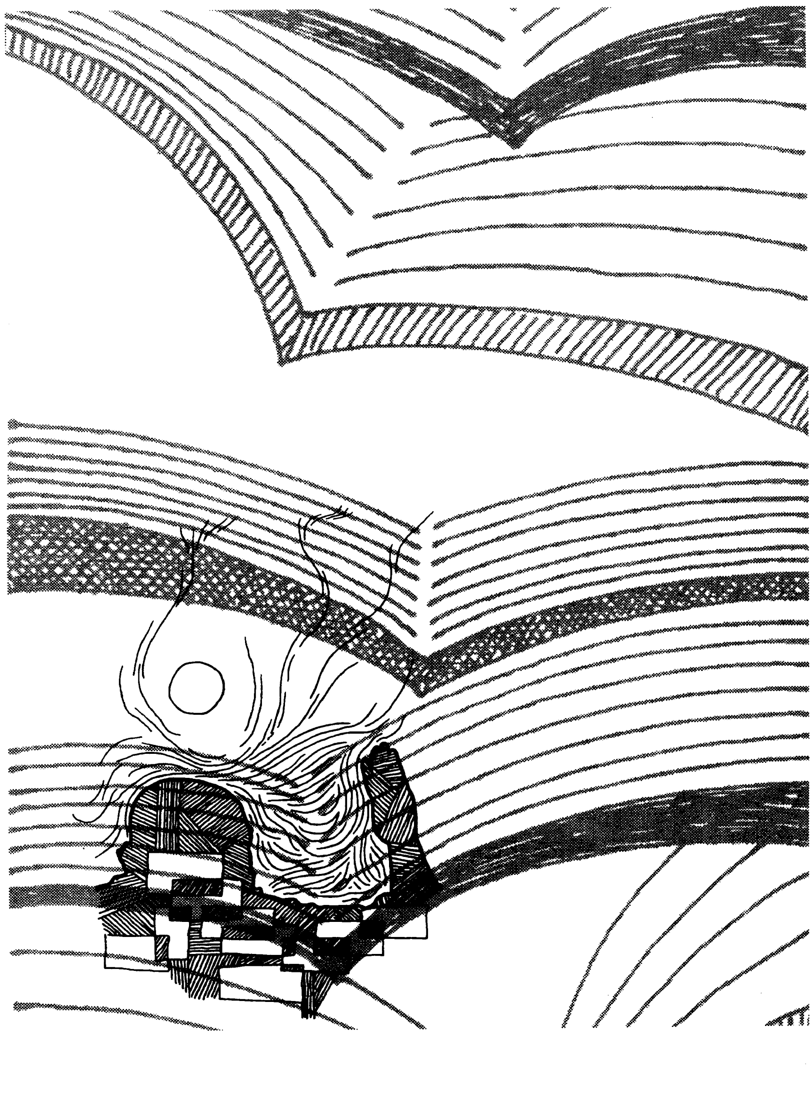

जब आत्मा अपने-आप को परमात्मा के सम्मुख समर्पित कर देती है, तब परमात्मा हमारे ज्ञान व हमारी त्रुटियों को अपना लेता है और वह अपर्याप्तता के सब रूपों को परे फेंक देता है और सब वस्तुओं को अपने असीम प्रकाश और सार्वभौम अच्छाई की विशुद्धता में रूपांतरित कर देता है। भक्ति केवल 'एकाकी की एकाकी की ओर उड़ान', आत्मा का संसार से विराग और परमात्मा से अनुराग नहीं है, अपितु उस दिव्य भगवान के प्रति सक्रिय प्रेम है, जो इस संसार का उद्धार करने के लिए इस संसार में प्रवेश करता है।

—राधाकृष्णन

संदर्भ : आस्था, विश्वास, श्रद्धा

आधुनिक जीवन की विडंबना

❑ डॉ. विद्यानिवास मिश्र ❑

अनेक वर्षों से 'आस्था' शब्द का प्रयोग साहित्य और साहित्य की आलोचना में बहुत होने लगा है और प्रायः यह विश्वास का पर्याय बनता जा रहा है। इसी अनुपात में 'श्रद्धा' का प्रयोग कुछ कम दिखाई पड़ता है। मध्य युग में 'श्रद्धा' साहित्य के केंद्र में तो थी ही, प्राचीन काल में भी पुरुष 'श्रद्धा' से ही नापा जाता था। कितनी 'श्रद्धा' किसमें है, इसी में उसका महत्त्व होता था। मध्य युग में 'श्रद्धा' और 'विश्वास' में स्पष्ट अंतर किया जाता था। तुलसीदास ने इसीलिए पार्वती और परमेश्वर—दोनों की उपमा क्रमशः 'श्रद्धा' और 'विश्वास' से दी है। आज के भारतीय समाज में ही नहीं, पूरे विश्व-समाज में ये शब्द प्रश्नों के घेरे में आ गए हैं। आधुनिकता के अनेक अभिलक्षणों में एक अभिलक्षण आस्थाहीनता भी है। 'विश्वास' और 'श्रद्धा' के खोखलेपन पर और उनके अतिरेकी प्रदर्शन पर अपने को विशुद्ध बुद्धिवादी कहने वाले लोग बहुत आक्रोश व्यक्त करते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में इन शब्दों के निहितार्थ पर समग्र दृष्टि से विचार-विमर्श प्रासंगिक होगा। व्युत्पत्ति के आधार पर इन शब्दों का अर्थ ग्रहण करना चाहें तो कुछ सहायता मिलेगी। 'आस्था' का अर्थ होता है—टिकना, किसी पर आरूढ़ होना, कोई अवलंब होना। इसका गौण अर्थ है—'आदर'। किसी के लिए आदर, किसी की चिंता करना, खयाल रखना। इसका कहीं-कहीं अर्थ—'भरोसा' भी मिलता है। इन सभी अर्थों में मूल धातु 'स्था' है, जिसका अर्थ है—टिकना, कहीं जमकर बैठना।

> *छद्म 'सेक्यूलरवाद' से आज की राजनीति ग्रसित हो गई है। इसीलिए मतांधता भी बढ़ रही है और आपस का अविश्वास भी बढ़ रहा है। भारतीय समाज में एक विचित्र प्रकार की विष-बेलि फैल रही है। महात्मा गांधी ने कुछ सकारात्मक प्रयास किए थे। उन प्रयासों को स्वीकृति इसीलिए मिली कि उनके प्रयास धर्म के चौखटे में ही किए गए थे। उन्हें अपने धर्म में ही आपसी समझदारी, एक-दूसरे के विश्वास के प्रति आदरभाव और प्राणमात्र के लिए चिंता के तत्त्व मिले तो यह कहना चाहेंगे कि उनकी राजनीति 'श्रद्धा' से संचालित थी। यह 'श्रद्धा' ईश्वर में थी और इसीलिए प्रत्येक प्राणी में थी, क्योंकि प्रत्येक गांधी में ईश्वर अभिव्याप्त है, प्रत्येक प्राणी में उसे जगाने की शक्ति है। उसी के कारण कोई एक-दूसरे से छोटा या बड़ा नहीं है। पिछले पचास वर्षों में गांधीजी के समय का परिदृश्य उलट गया है। यह कहें कि 'श्रद्धा' नहीं है, ऐसा नहीं। 'श्रद्धा' भी है, कुछ अधिक ही है। 'विश्वास' भी है, पर उससे अधिक उसका प्रचार है। हां, 'आस्था', जो पहले कुछ व्यवस्थाओं में थी, उसके कारण जीवन में निश्चिंतता थी, वह 'आस्था' बहुत क्षीण हो गई है।*

अब 'विश्वास' शब्द पर चलें। 'विश्वास' का अर्थ स्पष्ट ही सांस लेना है। निःश्वास का अर्थ होता है, गहरी सांस लेना। उच्छ्‌वास का अर्थ होता है—उमंगपूर्वक सांस लेना। सांस का ऊपर उठना या खिंचना। निःश्वास में सांस नीचे छोड़ी जाती है। 'आश्वास' का अर्थ होता है—खुली सांस अर्थात् इतना इतमीनान होना कि हम जी-भर सांस ले सकते हैं। 'प्रश्वास' का अर्थ होता है—सांस का आना-जाना अर्थात् जीवन का प्राण-व्यापार। 'विश्वास' का शाब्दिक अर्थ होता है—विशेष प्रकार का श्वास, बहुत आत्मबल देने वाली सांस। और उसी से उद्‌भूत अर्थ होता है—किसी के साथ प्राणों के संबंध के कारण ऐसी प्रतीति हो जाए कि मुझे कोई चिंता करने की आवश्यकता नहीं।

विश्वास में छल या दुराव की गुंजाइश नहीं रहती।

जिस पर प्रतीति हो जाए, जिसके ऊपर आदमी भरोसा कर ले, वह यदि घात करता है तो उसे 'विश्वासघात' कहते हैं, और वह बहुत बड़ा पाप समझा जाता है। विश्वास चेतन व्यापार है, पर यदि तनिक भी चेतना सो जाती है तो विश्वास अंधविश्वास हो जाता है। विश्वास केवल मानना नहीं है कि अमुक में यह शक्ति निहित है या अमुक में यह सामर्थ्य है अथवा अमुक का स्वरूप ऐसा है; वह जिसके ऊपर विश्वास करता है, उसके साथ जुड़ने पर भीतर स्पंदन का अनुभव करता है। बच्चा मां पर विश्वास करता है, पत्नी पति पर विश्वास करती है, पति पत्नी पर विश्वास करता है। इस विश्वास की प्रतीति भीतर के स्पंदन से तथा प्राणों के उच्छलन से होती है। यदि प्राणों का उच्छलन न हो तो वह विश्वास सप्राण नहीं रह जाता, निष्प्राण हो जाता है। 'श्रद्धा' शब्द का अर्थ श्रद् अर्थात् हृदय में धारण करना (श्रद्+धा) है। प्राण-व्यापार हृदय-व्यापार से कुछ कम गहरा है। इसलिए श्रद्धा के स्तर और इधर इसमें दोहरी सक्रियता है, दोहरी सजगता है। विश्वास तो अर्धचेतन जीवन का भी हो जाता है। कुत्ता अपने मालिक पर विश्वास करता है, नर पक्षी मादा पक्षी पर विश्वास करता है। मृगी अपने सहचर मृग के ऊपर इतना विश्वास करती है कि अपनी आंख उसके सींग से खुजलाती है, और खुजलाने से उसको सुख मिलता है। श्रद्धा उन्नत चेतना का व्यापार है। यह मनुष्य के भीतर ही उपजती है, इसीलिए यह सार्थक कर्म की कसौटी बनती है।

समाहार रूप में यह कह सकते हैं कि इन शब्दों से प्रतीत होने वाली धारणाओं के बारे में एक निष्कर्ष तो यह निकलता है कि आस्था अधिक स्थूल है, विश्वास उससे कुछ सूक्ष्म है। श्रद्धा सूक्ष्मतम है। अब हम कुछ और गहराई में चलते हैं—'श्रद्धा' प्रश्नचिह्न के घेरे में क्यों है? उस पर इतने आक्रमण क्यों हैं?

पहला कारण तो यह है कि पिछले सौ वर्षों में वैज्ञानिकता का अंधविश्वास बहुत फैला है। हर चीज की वैज्ञानिक जांच होनी चाहिए। यह एक प्रकार का फैशन बन चुका है। केवल जांच से संतोष नहीं होता लोगों को, वैज्ञानिक जांच होनी चाहिए। हर तथ्य को वैज्ञानिक होना चाहिए। विज्ञान ने क्या पूरी जांच कर ली? उत्तर 'नहीं' में ही आएगा। बहुत-कुछ है जिसे विज्ञान मापने, समझने में असमर्थ रहा है और उसे मानना पड़ता है कि कुछ-न-कुछ है जो अनिश्चित है, पूर्व नियत नहीं है, वह परिभाषित नहीं है। पर कहीं-न-कहीं ऐसी स्थिति है कि जिसे हम अवश्य देखते हैं, जिसके कोई ज्ञात वैज्ञानिक कारण नहीं दिखते—वहां हम कल्पना करते हैं कि कोई अव्यक्त कारण है, जो अभी जाना नहीं गया है। जो भी वैज्ञानिक शोध होते हैं, यह सीमा मानकर होते हैं कि अब तक के विश्लेषण में जो ज्ञात है उसी के चौखटे में रहकर हम कुछ कर रहे हैं। कोई सर्वव्यापक नियम हम नहीं बना रहे हैं। इसलिए आज के विज्ञान को शुद्ध आधिभौतिक विवेचन से संतोष नहीं। दुर्भाग्य यह है कि जो विज्ञान के लोग नहीं हैं, उनके ऊपर विज्ञान का नशा कुछ ज्यादा रहता है। इसीलिए ऐसे लोग 'श्रद्धा' का दो टूक निषेध करते हैं। दूसरे लोग वे हैं जो सोचते हैं कि 'श्रद्धा' वह है जो बाह्य आचरण से अधिक शरीर के रोम-रोम में दिखने वाले सात्त्विक अनुभावों (आंसू, कंप आदि) में प्रतीत हो। तीसरे प्रकार के 'श्रद्धा'-विरोधी वे लोग हैं जो समाज में वस्तुवादी चिंतक की प्रतिष्ठा पाने के लिए बाहर से 'श्रद्धा' का विरोध करते हैं। भीतर से वे दुविधा में पड़े रहते हैं कि कहीं 'श्रद्धा' की आवश्यकता जीवन में न पड़े।

इस दुविधा के कारण वे एक ओर अपने को नास्तिक घोषित करते हैं, दूसरी ओर ज्योतिषियों को कुंडली दिखाते हैं। पूजा-पाठ कराते हैं, पर खुद नहीं करते। क्योंकि खुले आम उन्हें श्रद्धा का मखौल उड़ाना है। अब प्रश्न है कि देखने में 'श्रद्धा' रखने वाले लोग बहुत हैं। मंदिरों में उनकी भीड़ बढ़ती ही जा रही है। बाबाओं के आश्रम बड़े होते जा रहे हैं। घरों में भी देवताओं की तस्वीर, चाहे वह कैलेंडर की तस्वीर क्यों न हो, टंगने लगी है और वहां अगरबत्ती जलाई जाने लगी है। तीर्थों में भीड़ बढ़ने लगी है। इसके बावजूद सच्ची 'श्रद्धा' करने वाले कौन लोग हैं? 'श्रद्धा' का विस्थापन भी कम नहीं हो सकता है। बाबा ही भगवान बनने लगे हैं। सब कष्ट-निवारण करने का ठेका ले रहे हैं। ऐसे श्रद्धालुओं में पढ़े-लिखे सफेदपोश लोगों की संख्या अधिक है। ये सभी श्रद्धालु अभ्यासवश किसी-न-किसी ऐसी स्थिति में अवश्य पहुंच जाते हैं कि वे अपनी 'श्रद्धा' के बल पर अपने भीतर आत्मबल अनुभव करने लगते हैं। इसके अलावा अधिसंख्य कम पढ़े-लिखे और अनपढ़ लोग हैं, जो बहुत शास्त्रीय विधि से पूजा-पाठ नहीं करते, पर पर्वों पर कष्ट सहकर भी स्नान करने अवश्य जाते हैं—गंगा में, त्रिवेणी में या किसी पवित्र नदी में। चारों धाम जाते हैं, मंदिरों के दर्शन के लिए जाते हैं। कभी-कभी दर्शन नहीं भी मिलता है; पर केवल स्थान का दर्शन करके संतुष्ट लौट जाते हैं और अपने को पुलकित

अनुभव करते हैं। ऐसी यात्राएं उनके लिए आत्मविश्वास की नए सिरे से पूर्ति होती हैं और उनमें से प्रायः सभी शुद्ध मन से ही तीर्थयात्रा करते हैं।

मैंने प्रयाग में प्रतिवर्ष कुंभ के अवसर पर गंगा में स्नान किया है और असंख्य-असंख्य लोगों के साथ डुबकी लगाई है। मुझे ऐसे अनाम, अपरिचित, अव्यवस्थित, निरपेक्ष लोगों में प्राणवत्ता दिखी है, ऊर्जा दिखी है और अचेत रूप से व्यवस्था भी दिखी है। माघ की कड़ाके की ठंड में ये लोग हल्का-सा कंबल ओढ़कर रात-भर गंगास्नान की प्रतीक्षा में बिता देते हैं। उन्हें स्नान के पहले खाने-पीने की कोई चिंता नहीं होती। स्नान के बाद अपने साथ लाई हुई गठरी से कुछ निकालकर खा लेते हैं या वहीं थोड़ी-सी जगह मिल जाए तो उपलों के ऊपर बाटी और भुरता बना लेते हैं और संतृप्त हो जाते हैं। उनके साथ स्त्रियां भी होती हैं। वे गाती हुई जाती हैं और गाती हुई लौटती हैं। इस उल्लास का विकिरण मुझे बराबर मिला है। केवल 'श्रद्धा' का फल है, और कोई कारण वहां उपस्थित नहीं है। अब इस 'श्रद्धा' को बौद्धिकता की आंधी अगर उखाड़ फेंकती तो फिर ऐसे लोगों के उल्लास के लिए कौन ठौर बचेगी! अभी तो यही एक रास्ता है, जहां पर जाति, कुल, प्रतिष्ठा—सब तिरोहित हैं। निर्व्यक्ति होकर आदमी उपस्थित है, अकिंचन होकर उपस्थित है। क्या उन्हें किंचन और संपन्न बनाने के लिए उनसे 'श्रद्धा' छीनना अपरिहार्य है?

इस प्रश्न पर मैंने लगातार गहराई से सोचा है और मुझे पहली बात यह लगी कि सुशिक्षित करने के नाम पर गहरे संस्कार की नींव नहीं ढहनी चाहिए। इसके कारण सारा देश एक है। प्रत्युत कहना यह चाहिए कि इन संस्कारों की अर्थवत्ता इन्हें समझाई जाए और इनके विकास के उपक्रम को उन संस्कारों के अनुरूप ढाला जाए। उदाहरण के लिए—इनके संस्कार हैं कि हरे-भरे पेड़ न काटे जाएं, नदी अपवित्र नहीं की जाए, साबुन या तेल लगाकर नदी में स्नान न किया जाए, रात में फूल-पत्तियां न तोड़ी जाएं, निरी कलियां न तोड़ी जाएं, कच्ची फसल न काटी जाए, घरेलू पशु-पक्षियों के साथ ममत्व का रिश्ता जोड़ा जाए। संस्कारों को हम आज के संदर्भ में अर्थ दें तो जिस तेज रफ्तार से पर्यावरण का क्षरण हो रहा है—वह न हो। विकास सही रास्ते पर मनुष्य के हित के लिए तो है ही, समस्त जीव-जगत् के हित के लिए हो। कुछ ऐसा दुर्भाग्य है कि किसी भी कार्य की कुशलता के लिए हृदय का योग अधिक रखना होता है। मन लगाकर काम करना आवश्यक होता है। वह तभी होता है जब जीवन-मूल्य हो और उसमें 'श्रद्धा' हो।

यही सही है कि झूठी 'श्रद्धा' से ईमानदार नास्तिकता अच्छी होती है; पर वह आस्था ईमानदार नहीं होती जो सच्ची 'श्रद्धा' का अस्तित्व ही अस्वीकार करती है या फिर उसे आधुनिक युग के प्रतिकूल मानती है। मैं श्रद्धेय राहुलजी के साथ रहा हूं। वे घोषित नास्तिक थे; पर कभी भी उन्होंने मेरी आस्तिकता को ढोंग नहीं माना और इसका सच्चे हृदय से निर्वाह किया। मेरी मानवीय जीवन-पद्धति और निष्ठा के बारे में उन्होंने कभी उपहास नहीं किया। उनके साथ रहकर हमने सीखा कि मनुष्यमात्र की जैसी भी 'आस्था' हो, जैसा भी 'विश्वास' हो, उसके साथ हास-परिहास तभी करना चाहिए जब वह भी हास-परिहास के भाव में हो या वह हास-परिहास निर्व्याज हो। हम लोग अपने देवी-देवताओं के साथ परिहास करते हैं, घर-परिवार की तरह हास-परिहास करते हैं; पर उस हास के भीतर कहीं गहरी आत्मीयता रहती है। निषेधात्मक नास्तिकता और सकारात्मक नास्तिकता में अंतर होता है। उसी प्रकार 'आस्था', 'विश्वास' और 'श्रद्धा' भी सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों हो सकते हैं। सकारात्मक विश्वास अपने से भिन्न विश्वास का विकल्प स्वीकार करता है। निषेधात्मक विश्वास दूसरे के विश्वास को पाखंड ही समझता है। उसी प्रकार नकारात्मक श्रद्धा दूसरे की श्रद्धा को सच नहीं मानती; केवल अपनी श्रद्धा को सच मानती है।

पिछले पचास वर्षों में 'सेक्यूलरवाद' के नाम पर बहुत-सी नकारात्मक प्रवृत्तियां फली-फूली हैं और 'नॉन-सेक्यूलर' एक प्रकार से गाली हो गया है। 'धर्म' शब्द के व्यवहार पर लोगों में कुछ भय और संकोच होने लगा है। इसी कारण बहुत-सी विडंबनाएं पैदा हो गई हैं। बहुत-से दुरुखेपन पैदा हो गए हैं। 'सेक्यूलर' का अर्थ धर्म नहीं मानना है, संप्रदाय नहीं मानना है तो विभिन्न मतों और संप्रदायों के पवित्र स्थलों में, इन स्थलों की रीति में अनुष्ठान क्यों किए जाते हैं? यदि 'सेक्यूलरवाद' का अर्थ व्यक्तिगत विश्वास और श्रद्धा की स्वतंत्रता तथा उसके प्रति आदर है, तो जो लोग एक धर्म की निष्ठा को निष्ठा मानने और उसकी सब प्रकार से रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं, वे लोग इससे इतर धर्म में निष्ठा को क्यों 'नॉन-सेक्यूलर' कहते हैं? यदि तटस्थता है तो सबके प्रति होनी

चाहिए और अपेक्षाओं के अनुसार कुछ धर्मों में संशोधन की मांग करते हैं, तो उन्हें दूसरे मजहबों में संशोधन की मांग भी करनी चाहिए।

छद्म 'सेक्यूलरवाद' से आज की राजनीति ग्रसित हो गई है। इसीलिए मतांधता भी बढ़ रही है और आपस का अविश्वास भी बढ़ रहा है। भारतीय समाज में एक विचित्र प्रकार की विष-बेलि फैल रही है। महात्मा गांधी ने कुछ सकारात्मक प्रयास किए थे। उन प्रयासों को स्वीकृति इसीलिए मिली कि उनके प्रयास धर्म के चौखटे में ही किए गए थे। उन्हें अपने धर्म में ही आपसी समझदारी, एक-दूसरे के विश्वास के प्रति आदरभाव और प्राणमात्र के लिए चिंता के तत्त्व मिले तो यह कहना चाहेंगे कि उनकी राजनीति 'श्रद्धा' से संचालित थी। यह 'श्रद्धा' ईश्वर में थी और इसीलिए प्रत्येक प्राणी में थी, क्योंकि प्रत्येक गांधी में ईश्वर अभिव्याप्त है, प्रत्येक प्राणी में उसे जगाने की शक्ति है। उसी के कारण कोई एक-दूसरे से छोटा या बड़ा नहीं है। पिछले पचास वर्षों में गांधीजी के समय का परिदृश्य उलट गया है। यह कहें कि 'श्रद्धा' नहीं है, ऐसा नहीं। 'श्रद्धा' भी है, कुछ अधिक ही है। 'विश्वास' भी है, पर उससे अधिक उसका प्रचार है। हां, 'आस्था', जो पहले कुछ व्यवस्थाओं में थी, उसके कारण जीवन में निश्चिंतता थी, वह 'आस्था' बहुत क्षीण हो गई है। आदमी राजनीति पर 'आस्था' नहीं कर पाता, आदमी न्याय पर 'आस्था' नहीं कर पाता, आदमी प्रशासन व्यवस्था पर 'आस्था' नहीं कर पाता, आदमी समाज व्यवस्था पर 'आस्था' नहीं कर पाता। इसके दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं। परिवार में भी हम देख रहे हैं, गांवों और शहरों में भी देख रहे हैं। यहां तक कि संवेदना पर जीने वाले साहित्य में भी देख रहे हैं।

स्वामी हरिदास के बारे में कथानक है कि उनके भक्तों ने कहा कि 'महाराज! सबके तो ठाकुर हैं, आपके ठाकुर क्यों नहीं हैं?' वे मन में ही ठाकुरों का ध्यान करते थे, क्योंकि कोई विग्रह उनके पास नहीं था। उन्होंने तल्लीनता से उनका ध्यान किया तो उन्हें लगा कि उनके दोनों हाथों में राधा और कृष्ण विराजमान हैं और उनके साथ-साथ दोनों नाच रहे हैं। एक क्षण ऐसा आता है जब दोनों हाथ मिलाते हैं और दोनों विग्रह भी मिलकर एक हो जाते हैं। वही विग्रह 'बांकेबिहारी' के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। इस कथा से हम केवल इतना ही दृष्टिगत करना चाहते हैं कि अपने लिए नहीं, अपने साथ के दुर्बल लोगों के लिए कोई ठाकुर चाहिए, कोई अवलंब चाहिए, कोई टेक चाहिए—जहां माथा नवाया जा सके और माथा नवाकर आश्वस्त हुआ जा सके। स्व. विद्यावती कोकिल की कविता है कि जिसका मस्तक जहां झुकता है वहीं उसको ईश्वर मिल जाते हैं।

मैं एक बार राहुलजी के साथ कुशीनगर गया था। महानिर्वाण की मुद्रा में लेटे हुए भगवान बुद्ध की प्रतिमा के चरणों में उन्होंने मस्तक नवाया। मैं उनके साथ था, मैंने भी नवाया। मस्तक नवाकर थोड़ा-सा हंसा। राहुल बाबा समझ गए और बाहर आकर बोले, 'तुमने सोचा होगा कि मैंने बौद्ध चीवर छोड़ दिया है। मेरे लिए बुद्ध का कोई महत्त्व नहीं है। पर कहीं-न-कहीं मनुष्य झुकना चाहता है। वह ग्रंथ के आगे झुके, किसी ढूह के आगे झुके—झुकता है। झुकने में उसकी हेठी नहीं होती। अपने गुरुजनों के पैर छूता है और मन से छूता है। उसमें उसकी हेठी नहीं होती। उसमें झुकने के कारण ही ऊंचे उठने का एक नया संकल्प होता है।'

इस 'आस्था' के न रहने पर—जो ऊंचे उठने की प्रेरणा देती है, 'विश्वास' और 'श्रद्धा' दोनों ही बाह्य हो जाते हैं। 'श्रद्धा' और 'विश्वास' तभी आदमी के लिए फलदायक होते हैं जब वह अपने हित के साथ दूसरे के हित की बात भी सोचता है; बल्कि दूसरे के हित में अपना हित सोचता है। दूसरे का हित सोचना ही 'श्रद्धा' और 'विश्वास' का प्रत्यय है। 'श्रीमद्‌भागवत' में भगवान के रहने का लक्षण ही लोगों के हित में अर्पित रहना बताया गया है। यह लक्षण न दिखे तो मानना चाहिए कि व्यक्ति भगवान का भक्त नहीं है। तुलसीदासजी ने भी ऐसा ही लक्षण बताया—जो व्यक्ति दूसरों के दुख से द्रवित न हो और दूसरों के अभ्युदय से प्रसन्न न हो—उस व्यक्ति के बारे में यह मानना चाहिए कि वह भक्त नहीं है।

भक्ति का प्रमाण व्यक्ति के आचरण में दिखना चाहिए। हम यह कह चुके हैं कि 'आस्था' स्थूल होती है, और यह स्थूल 'आस्था' ही 'श्रद्धा' और 'विश्वास' को प्रमाणित करती है। अब 'श्रद्धा' और 'विश्वास' अधिक स्थूल हो गए हैं और 'आस्था' अव्यक्त हो गई है—यही हमारे आधुनिक जीवन की एक विडंबना और यही दंश है, जो रचना के स्तर पर बहुत-कुछ कर सकता है। पर कितना कर पा रहा है, यह हमारे सामने है। ❖

जरा मुझे समझो तो

❑ साध्वी शुभ्रयशा ❑

मैं क्या हूं? कैसा हूं? समझ में नहीं आता। कहां से अपनी बात प्रारंभ करूं। ऋषि-महर्षियों, वैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिकों ने मेरी तह तक जाने के अथक प्रयत्न किए और कर रहे हैं, किंतु मेरी थाह कोई नहीं पा सका। सबने अपनी-अपनी समझ के अनुसार मुझे समझने की कोशिश की। धर्मग्रंथों में गुंफित किया। प्रयोगशालाओं में परीक्षण किया, फिर भी मैं यह मानने को कतई तैयार नहीं कि उन्होंने मुझे समझने में पूर्ण सफलता हासिल कर ली हो। और सफल होंगे भी कैसे, क्योंकि मैं बड़ा विचित्र हूं।

मैं क्या हूं, कैसा हूं?

मैं चलता हूं, पर यान नहीं हूं।

मैं देखता हूं, पर आंख नहीं हूं।

मैं उड़ता हूं, पर पक्षी नहीं हूं।

मैं संहारक हूं, पर शस्त्र नहीं हूं।

मैं स्रष्टा हूं, पर शास्त्र नहीं हूं।

मैं चेतना का स्तर हूं, इसलिए चेतन हूं। मेरा सारा कार्य मस्तिष्क और चिंतन योग्य पुद्गलों की सहायता से होता है, इसलिए मैं पौद्गलिक भी हूं। अनेक विरोधाभासी उपमाओं से उपमित मैं कितना विलक्षण और विस्मयकारक हूं! मुझे मेरे इस रूप पर भी विस्मय होता है, आश्चर्य होता है।

आत्मचिंतन करते समय मुझे लगता है—मैं कुछ भी नहीं हूं। इस प्राणवान शरीर में मेरा कोई भी अस्तित्व नहीं है। मैं तो मात्र क्रियातंत्र का एक कर्मचारी हूं, सेवक हूं, नौकर हूं। किंतु अपने कौशल के मोह से मूढ़ बनी चेतना का मालिक बन गया। मुझे लगता है—सर्वत्र मेरा ही साम्राज्य है। जो मैं सोचता हूं, जो मैं कहता हूं और जो मैं करना चाहता हूं—उसी के अनुसार मेरा मालिक (चेतना) कार्य करता है। मुझे लगता है—मैं कितना भाग्यशाली हूं इस मानव देह में। मैं संदेशवाहक बनकर आया था, दूत बनकर आया था, किंतु आज उसका सर्वेसर्वा बन गया। इसी बात का मुझे आश्चर्य होता है।

हां! मैं एक आह्वान करता हूं कि कोई अध्यात्म-पुरुष, कोई वैज्ञानिक या कोई मनोचिकित्सक मेरी इस बीमारी का निदान करे ताकि मैं स्वस्थ बन समाज के लिए वरदान बन सकूं। मेरी आवाज को सुना गया है। एक करुणार्द्र पुरुष, प्रयोगधर्मा पुरुष का चिंतन मेरा पथदर्शक बना है। उस महामनीषी ने मेरे रुग्ण मन का निदान करने की पक्की ठान ली है। उस महापुरुष ने सर्वप्रथम मेरे भीतर प्रेरणा का संचार किया और कहा—तुम स्वयं अपनी चिकित्सा कर सकते हो। दूसरा व्यक्ति रास्ता दिखा सकता है, किंतु मंजिल तक पहुंचने के लिए चलना तुम्हें ही पड़ेगा। मन को प्रशिक्षित करने के लिए प्रयोगधर्मा बनना होगा। वह परम पावन मनीषी कहता है—तब उसकी निष्पत्ति इस प्रकार होगी—

(1) तुम्हारा मन सकारात्मक सोच से भर जाएगा।
(2) मन अपने लक्ष्य के प्रति एकाग्र हो सकेगा।
(3) मन जागरूक हो जाएगा।
(4) मन अमन बन जाएगा।

मेरा निवासस्थान कहां है?

मैं घर में रहता हूं, पर पता नहीं मेरा मूल स्थान कहां है? आज भी खोज का विषय है कि इस शरीर में मैं कहां हूं? कुछ योगाचार्य बाएं फेफड़े के पास हृदय से एक इंच नीचे मेरा निवास स्थान मानते हैं। कुछ मेरा मूल स्थान मस्तिष्क में बताते हैं। तंत्रिका तंत्र का भाग होने से मैं पवन की तरह सर्वत्र व्याप्त हूं।

कैसा है मेरा स्वरूप

औदारिक शरीर में मेरा कोई शाश्वत वास नहीं, इसलिए मेरा कोई निश्चित स्वरूप भी नहीं। निश्चित स्वरूप का निर्धारण उसका होता है, जिसका स्थाई वास हो। संज्ञान की अपेक्षा त्रैकालिक होने पर भी, अस्तित्व की अपेक्षा त्रैकालिक नहीं हूं। 'मन्यमान मन' इस उक्ति के अनुसार मनन के पहले व मनन के बाद मेरा अस्तित्व नहीं रहता। मेरा अस्तित्व केवल मननकाल में रहता है। 'मणिज्जमाणे मणे' के

अनुसार मैं एक क्षण में होता हूं और अगले क्षण में मेरा विलय हो जाता है। इसलिए सृजन और संहारकर्ता शिव की तरह मेरा स्वरूप भी विविध प्रकार का है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने मुझे हिमखंड जैसा माना है, तो युंग ने मुझे महासागर की उपमा से उपमित किया है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में 'बाहर जाने वाली चेतना का प्रवाहात्मक अस्तित्व ही मन है। वृहत्मस्तिष्क के द्वारा जो चैतन्य प्रकट होता है जिसमें त्रैकालिक संज्ञान की क्षमता है, वह मन है।' ज्योतिर्विज्ञान में मेरी व्याख्या चंद्रमा के आधार पर की जाती है, कालचक्र के आधार पर की जाती है। इस प्रकार कालचक्र, ग्रहचक्र और सौरमंडल के साथ भी मैं जुड़ा हुआ हूं। मनोविज्ञान की भाषा में चेतन—'कोंसियस',—अर्धचेतन 'सबकोंसियस' और अचेतन—'अनकोंसियस' के रूप में अनेक स्तरों को धारण करने वाला मैं शक्ति का महापुंज हूं।

मेरा कार्यक्षेत्र क्या है

मेरा कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। मैं तीनों कालों का अखंड स्वामी हूं। मेरा कार्यक्षेत्र अतीत की स्मृति, वर्तमान का चिंतन व भविष्य की कल्पना में निहित है। अतीत और अनागत का सेतु मैं वर्तमान-द्रष्टा होने पर भी कभी-कभी अतीत की स्मृतियों व भविष्य की कल्पनाओं से भावविह्वल हो उठता हूं। जब दुखद स्मृतियां, निषेधात्मक विचार और द्रौपदी के चीर की तरह कभी अंत न होने वाली दुष्ट भावनाओं के शस्त्र मुझ पर आक्रमण करते हैं तो मैं क्षत-विक्षत हो जाता हूं।

जब सफलता के स्थान पर असफलता, आशा के स्थान पर निराशा और विजय के स्थान पर पराजय का सामना करना पड़ता है—तब घृणा, ईर्ष्या और द्वेष के बादल मेरे नयनों में तैरने लगते हैं। आक्रोश की तड़ित मेरे मस्तिष्क को झकझोरने लगती है। मेरा रोम-रोम मर्माहत पीड़ा से कराह उठता है। भविष्य की भयावह कल्पना का जाल, जो मोहरूपी कर्मतंतुओं से बना है—वह मुझे बंदी बना लेता है। मेरा भोला मन भोले पक्षी की तरह उसमें कैद हो कितनी यातनाएं सहन करता है, उसकी कल्पना करना भी कठिन है। फिर भी मैं अपनी संपूर्ण शक्ति को जुटाकर प्रचंड योद्धा की तरह इन आंतरिक शत्रुओं से लोहा लेने रणक्षेत्र में उतरता हूं। वीतरागता के अभाव में मन-रूपी शस्त्र को साधे बिना ही मैं कभी छल से, कभी बल से और कभी चातुर्य से मोहकर्म को जीतने की कोशिश करता हूं। किंतु इसी बीच शंका, कांक्षा और विचिकित्सा का प्रचंड वेग मेरे भीतर विक्षोभ उत्पन्न कर देता है। मेरा 'मूड-ऑफ' हो जाता है। मैं रुग्ण हो जाता हूं। मेरी सहजता, सरलता और शशि-सौम्यता 'डिप्रेशन' का रूप ले लेती है। मेरी शक्ति घट जाती है, मनोबल टूट जाता है। मैं श्लथ, निर्वीर्य और निष्क्रिय हो जाता हूं।

मैं अस्वस्थ क्यों होता हूं

मैं बहुत बार सोचता हूं कि मैं बेचैन क्यों होता हूं? मेरे भीतर कमजोरियां क्यों आती हैं? मेरा मनोबल क्यों टूटता है? मैं अशांत क्यों होता हूं और क्या कारण है कि एक के बाद एक हर समस्या की कड़ी मुझे जकड़ती चली जाती है।

शरीरशास्त्रियों का ऐसा मानना है कि अवचेतन स्तर पर कार्य करने वाला अंतःस्रावी तंत्र असंतुलित हो जाता है। 'ट्रिप्टोफेन' नामक रसायन की कमी होने से मैं अवसाद से भर जाता हूं। मेरी असामान्य स्थिति को देखकर लोग मुझे भूत, प्रेत और यमदूत समझने लगते हैं, किंतु मुझे भूत बनाया किसने? मुझे वर्तमान जीवनशैली की अस्त-व्यस्त दिनचर्या ने अस्वस्थ किया है, अभिशप्त कर दिया है। भागदौड़, तनाव, प्रतिस्पर्धा, आघात, 'हार्मोंस' का असंतुलन, उचित पोषण का अभाव, अपनत्व की भावना से वंचित मैं हीनभावना से भर गया हूं। अपनी नासमझी के कारण अपना ही नुकसान कर बैठा हूं।

मैं जानता हूं, मेरे कारण समाज में आत्महत्या का 'ग्राफ' निरंतर ऊपर चढ़ रहा है। 1998 का एक सर्वेक्षण बताता है कि उस वर्ष 1,04,613 व्यक्तियों ने 'डिप्रेशन' के कारण आत्महत्या की थी। अनुमान है कि 2004 तक ये आंकड़े 3 लाख की संख्या को पार कर जाएंगे।

मुझे अफसोस-युक्त क्षणिक संतोष है कि मुझे स्वस्थ बनाने के लिए 'फार्मास्युटिकल कंपनियां' नई-नई दवाएं बाजार में पहुंचा रही हैं। मनोचिकित्सक 'सेमिनार' आयोजित करके मुझे स्वस्थ बनाने के लिए विचार-विमर्श करते हैं, किंतु पूर्ण चिकित्सा के अभाव में मेरी हालत त्रिशंकु की तरह हो गई है।

कैसे हो अशांत मन का समाधान

हां! मैं एक आह्वान करता हूं कि कोई अध्यात्म-पुरुष, कोई वैज्ञानिक या कोई मनोचिकित्सक मेरी इस बीमारी का निदान करे ताकि मैं स्वस्थ बन समाज के लिए वरदान बन सकूं। मेरी आवाज को सुना गया है। एक करुणार्द्र पुरुष, प्रयोगधर्मा पुरुष का चिंतन मेरा पथदर्शक

बना है। उस महामनीषी ने मेरे रुग्ण मन का निदान करने की पक्की ठान ली है। उस महापुरुष ने सर्वप्रथम मेरे भीतर प्रेरणा का संचार किया और कहा—तुम स्वयं अपनी चिकित्सा कर सकते हो। दूसरा व्यक्ति रास्ता दिखा सकता है, किंतु मंजिल तक पहुंचने के लिए चलना तुम्हें ही पड़ेगा। मन को प्रशिक्षित करने के लिए प्रयोगधर्मा बनना होगा। वह परम पावन मनीषी कहता है—तब उसकी निष्पत्ति इस प्रकार होगी—

(1) तुम्हारा मन सकारात्मक सोच से भर जाएगा।

(2) मन अपने लक्ष्य के प्रति एकाग्र हो सकेगा।

(3) मन जागरूक हो जाएगा।

(4) मन अमन बन जाएगा।

ऐसी स्थिति में 'डिप्रेशन' नौ-दो-ग्यारह हो जाएगा। चारों ओर आनंद की वर्षा होने लगेगी। मन प्रिय-अप्रिय संवेदनों से ऊपर उठ जाएगा। चिदानंद, चिन्मय स्वरूप को प्राप्त कर सकेगा। इस स्थिति का निर्माण करने के लिए दीर्घकाल तक प्रयोग करना आवश्यक है।

वह मनीषी मन को सकारात्मक व एकाग्र बनाने के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग बताता है। ये प्रयोग हैं—

कंठ का कायोत्सर्ग, जीभ का कायोत्सर्ग, खेचरी मुद्रा—जीभ को तालु की ओर ले जाकर स्थिर करना या जीभ को अधर में रखना, समवृत्ति श्वास प्रेक्षा, ज्योति केंद्र प्रेक्षा, नाड़ी शोधन प्राणायाम, मन को जागरूक बनाने के प्रयोग, सोऽहम् का त्रिसंध्या जप, 'सो' का विशुद्धि केंद्र पर, 'ह' का दर्शन केंद्र पर, 'म्' का ज्ञान केंद्र पर, मन को अमन बनाने के प्रयोग, आनंद केंद्र पर ज्योतिर्मय आत्मा का ध्यान, विशुद्धि केंद्र पर निर्मलज्योति का ध्यान, दर्शन केंद्र पर वर्तुलाकार ज्योति का ध्यान, प्राण केंद्र पर दृष्टि टिका कर बारह अंगुल पीली या आठ अंगुल लालवर्ण की ज्योति का ध्यान।

इन प्रयोगों की निष्पत्ति होगी—मैं उपशांत कषाय की साधना में रमण करने लगूंगा। सत्यं, शिवं, सुन्दरं का सौम्य मुकुट धारण कर अपने मन का सम्राट बन जाऊंगा। फिर अहंकार की गठरी का भार 'जरा मुझे समझो तो जानूं' मेरे सिर से उतर जाएगा। मेरा मन पवन-सा हल्का और वर्षा के जल जैसा पवित्र हो जाएगा। मैं, मेरा मन और मेरी शांति मेरी मुट्ठी में बंद रहेंगे। ❖

मैंने लिखा है कि स्त्री अहिंसा का अवतार है। अहिंसा का अर्थ है अनंत प्रेम। और अनंत प्रेम का अर्थ होता है कष्ट उठाने की असीम क्षमता। स्त्री को छोड़कर, जो पुरुष की माता है, इस प्रकार की क्षमता इतनी मात्रा में और कौन दिखाता है? नौ महीने तक बच्चे को पेट में रखकर और उसे अपना रक्त पिलाकर वह अपनी क्षमता प्रदर्शित करती है और इस कष्ट सहन में आनंद मानती है। प्रसव-वेदना में जो पीड़ा होती है, उससे बढ़कर और कौन-सी पीड़ा हो सकती है, मगर संतान को जन्म देने की खुशी में उसे भूल जाती है और फिर दिन-प्रतिदिन बच्चे को बड़ा करने में जो कष्ट उठाती है, सो और कौन उठा सकता है? आवश्यकता इस बात की है कि वह अपना प्रेम मानव जाति को बांट दे, यह भूल जाए कि वह पुरुष के भोग की वस्तु थी अथवा हो सकती है और तब वह पुरुष से बढ़कर उसकी माता, उसका निर्माण करने वाली और उसका मूल पथ-प्रदर्शक होने का गौरवपूर्ण पद धारण कर लेगी। युद्ध में फंसी हुई दुनिया को शांति की कला सिखाने का काम भगवान ने स्त्री को सौंपा है, सारी दुनिया शांतिरूपी अमृत के लिए तड़प रही है। वह सत्याग्रह की नेत्री बन सकती है, उसके लिए पुस्तकों के अर्जित ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, बल्कि कष्ट सहन और श्रद्धा से निर्मित बलवान हृदय की आवश्यकता है।

—महात्मा गांधी

बोलो वचन विचार

❑ समणी भावितप्रज्ञा ❑

मनुष्य वाणी के माध्यम से व्यक्ति व समाज से संपर्क स्थापित करता है। मनुष्य जीवन की सर्वाधिक विशिष्टता वाणी है। वाणी के सहारे मनोगत भावों की अभिव्यक्ति होती है। एक मनुष्य का अन्यों पर जो प्रभाव पड़ता है, उसमें व्यवहार और भाषा ही प्रधान हैं। व्यवहार देखा जाता है और भाषा सुनी जाती है। व्यक्ति की वाणी से विचारों और भावनाओं का ही नहीं, बल्कि मानसिक और नैतिक अवस्था का भी अनुमान किया जाता है। वाणी यानी बोलना, बातचीत।

जो बोलने की कला नहीं जानता, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इस संसार में धन, सुंदरता, रहन-सहन आदि का अपना-अपना प्रभाव है, किंतु वाणी का इन सबमें एक अनोखा ही प्रभाव है। जो बोलने की कला से अनभिज्ञ हैं—जिनके पास मधुर, कोमल एवं भव्य भाषा का भंडार नहीं—वे अनेक गुणों के धारक होते हुए भी दूसरों के दिलों के स्वामी नहीं बन सकते। जो बोलने की कला जानता है—जिसके पास मधुर, कोमल एवं भव्य भाषा का खजाना है, जिसकी रसना समय और स्थिति की पहचान करने में दक्ष है, जिसकी वाणी में दूसरों के लिए आदर है, प्रशंसा है, नम्रता है—वह दूसरों के दिलों पर सहजता से शासन कर सकता है। शब्द की ताकत परमाणु बम से भी अधिक है। परमाणु बम बाह्य-वैभव को नष्ट करता है, जब कि अवांछित शब्दों का इस्तेमाल आत्मा के गुण-वैभव को नष्ट करता है।

भाव और भाषा, विचार और वाणी, संकल्प और शब्द—इनका गहन संबंध है। विचार परोक्ष हैं। वाणी प्रत्यक्ष है। विचारों से पहले वाणी पर नियंत्रण जरूरी है। विचार-प्रवाह तो निरंतर चलता रहता है। विचार करने के पश्चात कब, कहां, कैसे और कितना बोलना है—यह महत्त्वपूर्ण चिंतन का विषय है। विचार-श्रेणी को यदि बांधा जाए तो अद्वितीय ऊर्जा का संचय किया जा सकता है—जैसे धाराप्रवाह बहने वाली नदी को बांध कर ऊर्जा को अर्जित किया जाता है।

वाणी कैसे फूटती है? हमारा कंठ, तालू, मूर्धा, दांत, होंठ, उर और जिह्वा आदि स्थानों से शब्द को स्वर मिलता है। बोलते समय हमारे होंठ बांसुरी का काम करते हैं। दांत हारमोनियम की तरह हैं। व्यक्ति चाहे तो इन साजों का उपयोग कर अपने शब्दों में मधुरता भर सकता है। कहा जाता है—बैजू बावरा के शब्द-संगीत से हिरण खिंचे चले आते थे। संगीत-विशेषज्ञ तानसेन जब दीपक राग छेड़ते तो दीप स्वतः प्रज्वलित हो उठते थे। मेघमल्हार राग गाकर बरसात बुला ली जाती थी। शब्द-तरंगों (ध्वनि-तरंगों) से दिमाग की गंभीर व्याधियों का उपचार किया जा सकता है। ध्वनि-तरंगों से कठोर से कठोर हीरे भी तोड़े जाते हैं। हम जो बोलते हैं, हमारे स्वास्थ्य पर उन तरंगों का गहरा असर पड़ता है। शब्द का प्रभाव अचिंत्य है।

भाव और भाषा, विचार और वाणी, संकल्प और शब्द—इनका गहन संबंध है। विचार परोक्ष हैं। वाणी प्रत्यक्ष है। विचारों से पहले वाणी पर नियंत्रण जरूरी है। विचार-प्रवाह तो निरंतर चलता रहता है। विचार करने के पश्चात कब, कहां, कैसे और कितना बोलना है—यह महत्त्वपूर्ण चिंतन का विषय है। विचार-श्रेणी को यदि बांधा जाए तो अद्वितीय ऊर्जा का संचय किया जा सकता है—जैसे धारा-प्रवाह बहने वाली नदी को बांध कर ऊर्जा को अर्जित किया जाता है।

बारंबार बोलना, आवश्यकता से अधिक बोलना, कटु एवं अप्रिय शब्दों का प्रयोग करना, अभिशापित वचन बोलना आदि से मानव अपनी जीभ का दुरुपयोग ही करता है। वाणी जीवन का दर्पण है। जीवन के सौंदर्य को वाणी से देखा जा सकता है। भाषा कैसी हो? यह अहम प्रश्न है। हेमचंद्राचार्य के शब्दों में :

अवद्यत्यागतः सर्वजनीनं मितभाषणम्।
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते।

अर्थात् निर्दोष, सभी जीवों के लिए हितकारी, प्रमाणोपेत (मितभाषण) बोलना चाहिए। ऐसी भाषा को तात्त्विक शब्दावली में भाषासमिति कहा गया है। ऐसी भाषा मुनियों को प्रिय, हितावह होती है। दूसरे शब्दों में जो भाषा मित, मधुर, मंद, सत्य व स्पष्टता आदि गुणों से युक्त हो—वह भाषा सधी हुई मानी जाती है। ऐसी भाषा सुख-शांति का साधन बनती है। जो मितभाषी हैं, मृदुभाषी हैं, मंदभाषी हैं, सत्यवादी हैं और स्पष्टवादी हैं—वे जीवन की बगिया में नानाविध फूल खिला सकते हैं और सबके लिए आकर्षक बन सकते हैं।

मितभाषण मानव का महान गुण है। बहुमूल्य शब्द-संपदा को व्यर्थ की बातों में खोने से क्या फायदा? काम की बात कम शब्दों में या संक्षेप में कही जा सकती है। अधिक बोलने वाले की बात बकवास में चली जाती है। समझदार जन चिंतन ज्यादा करते हैं, बोलते कम हैं और लिखते भी बहुत कम हैं। जो योग्य व्यक्ति का सम्मान चाहते हैं—उन्हें थोड़ा और अच्छा बोलना चाहिए। बुद्धिमान प्रायः चुप रहते हैं, किंतु मंदबुद्धि अधिक बोलते हैं। यह विडंबना है कि अधिक बोलने वाला अपने-आप को अधिक समझदार मानता है।

अब्राहम लिंकन से किसी ने पूछा—आप इतना अच्छा भाषण देते हो, इसके लिए कितनी तैयारी करते हैं। लिंकन ने कहा—यह भाषण पर निर्भर है। यदि पंद्रह मिनट बोलना है तो दो दिन चाहिए। यदि पांच मिनट बोलना है, तो उसके लिए और लंबी तैयारी चाहिए। यदि दो घंटे बोलना है तो अभी बोल सकता हूं। उसके लिए कोई तैयारी नहीं चाहिए। कम बोलना—जो सारभूत हो, तथ्यपरक हो—इसके लिए गहरी विचारणा अपेक्षित है। मितभाषण व्यक्ति को कलह पैदा करने वाले अनेक कारणों से बचा सकता है। व्यक्ति के पास सुनने के लिए दो कान और बोलने के लिए एक जीभ है। उसका संदेश ही यह है कि सुनो ज्यादा और बोलो कम।

साधना के क्षेत्र में वाक्-संयम का अभ्यास अत्यंत आवश्यक है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन सूत्र में मुनि के लिए स्थान-स्थान पर वाक्-संयम का निर्देश दिया गया है। वाक्-संयम शांति का सशक्त आधार है। कवि के शब्दों में—

मौखर्यं लाघवकरं मौनमुन्नतिकारणम्।
मुखरौ नूपुरौ पादौ कण्ठे हारो विराजते।

मुखरता आदमी को छोटा बनाती है और मौन उसे उन्नति की दिशा में ले जाता है। हार गले में शोभित होता है और नूपुर पैरों में। क्यों? नूपुर मुखर है, आवाज करता है—इसलिए उसे नीचा स्थान मिलता है। जब कि हार शांत है, मौन रहता है—इसलिए उसे ऊंचा स्थान मिलता है। निष्कर्षतः भाषा में वाक्संयम या मितभाषण व्यक्ति को उन्नति की दिशा में ले जाता है।

मधुर भाषण और मधुर वचन एक प्रकार से वशीकरण मंत्र हैं। जो मधुर बोलता है, वह सबका प्रीतिपात्र बनता है। मधुर वचन जख्मी दिल पर मरहम-पट्टी का कार्य करता है और तनावग्रस्त या दर्दे-दिल के लिए दवा का। मधुर-वचन निराश व्यक्ति में उत्साह और उमंग भर देता है। वचन जिंदगी दिलाने वाला भी है, तो जिंदा जलाने वाला भी है। यह वचनशक्ति ही है—जो तख्त पर बिठाती है, तो तख्ते (फांसी) पर भी चढ़ाती है। कहा गया है—जीभ में हड्डियां नहीं होती, मगर अनेकों की हड्डियां तुड़वा सकती है। कहा भी है—

छुरी, कैंची का, तलवार का घाव लगा सो भरा
लगा जख्म जबां का वो रहता है हरा।

वचन ने ही तो किसी के द्वारा रामायण बनवा दिया, तो किसी के द्वारा महाभारत करवा दिया। वचन के विषय में कहा गया है—**कुदरत को नामंजूर है सखती जबान में, पैदा हुई है न इसलिए हड्डी जबान में।** 'बोलो'—शब्द का अर्थ है—बो+लो, यानी बो करके लो। बोलना एक प्रकार से बीज बोना है। यदि हम श्रेष्ठ और मीठे फल प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें सदा मीठे वचनों के ही बीज बोने चाहिए। कटु वचनों का प्रयोग करेंगे तो कटु फल मिलेगा। जगप्रसिद्ध उक्ति है—

कागा काको धन हरे कोयल काको देय
मीठी वाणी बोल के जग अपनो कर लेय।

कोयल मधुर बोलती है। कौआ कांव-कांव करता है। कोयल मधुर बोलकर सबके कानों को अपनी ओर खींच लेती है। कौआ कांव-कांव करके सबके तिरस्कार का पात्र बनता है। रंग-रूप समान होने पर भी कोयल की कूक सबको प्यारी लगती है, जबकि कौए की कांव-कांव कर्कश लगती है। कहावत है—गुड़ न दो तो कम-से-कम गुड़ जैसा बोलो अवश्य। प्रिय-हितकर बात कहने पर दिल को आनंद मिलता है। कबीरजी कहते हैं—

ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोय
ओरन को शीतल करे आपहु शीतल होय।

दुनिया में अलग-अलग तरह के लोग हैं। कई लोग मीठा बोलते हैं, तो कई लोग कड़ुवा बोलते हैं। कई लोग कड़वा सच कहकर स्पष्टवादी होने का दंभ भरते हैं। किंतु यह उनका झूठा अहंकार, वाक्-असंयम या वाणी का असम्यक् प्रयोग भी समझा जा सकता है।

राजा ने स्वप्न देखा कि सब दांत गिर गए। प्रातःकाल दरबार जुड़ा तो ज्योतिषी को पूछा—इस स्वप्न का क्या फल होना चाहिए? ज्योतिषी ने कहा—आपके समस्त परिजन आपके जीवनकाल में ही मृत्यु प्राप्त करेंगे। इसे कटु सत्य कहा जाएगा और इसी के कारण राजा ने उसका सिर धड़ से अलग करवा दिया। राजा ने यही प्रश्न दूसरे ज्योतिषी को पूछा। उसने कहा—राजन्! आप अपने समस्त परिजनों की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी हैं। मंतव्य दोनों का एक था, पर बोलने का ढंग भिन्न था। एक में कटुता थी और दूसरे में मधुरता और शालीनता भरी थी। मधुरभाषी व्यवहारकुशल होता है। वह सबके दिल में अपना स्थान जमा लेता है। मधुरता का स्रोत अंदर से फूटना चाहिए। मधुर बोलने वाला दूसरों में प्रीति उत्पन्न करता है। कवि का कहना है—

प्रियावाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति मानवाः
तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता

अर्थात् सभी मनुष्य प्रिय वचन से तुष्ट रहते हैं, तो फिर मधुर वचन बोलने में दरिद्रता क्यों की जाए? किंतु 'मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदये तु हलाहलम्'—मधुरभाषी चापलूसों से सदैव बचना भी चाहिए।

मंदभाषण से तात्पर्य है—कम बोलो, मीठा बोलो, धीरे बोलो। शब्दों के अपने प्रकंपन होते हैं। एक क्षण में शब्द के न्यूनतम बीस प्रकंपन और अधिकतम बीस हजार प्रकंपन होते हैं। कानों के सुनने की सीमा है। एक 'सेकेंड' में कान बीस प्रकंपन पकड़ पाता है। धीरे बोलने से ध्वनि-तरंगों का शरीर, मन, भाव पर अच्छा असर होता है। धीरे बोलने वाला अपनी शक्ति की सुरक्षा करता है। धीरे बोलने वाला आस-पास में किसी को बाधा नहीं पहुंचाता है। धीरे बोलने वाला जहां भी कहीं बैठे, जहां-कहीं भी बोले, जहां-कहीं रहे—वातावरण की नीरवता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

सत्यभाषण का महत्त्व छिपा नहीं है। 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' सत्य बोलो, प्रिय बोलो, किन्तु अप्रिय सत्य न बोलो। हेमचंद्राचार्य ने कहा—

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतव्रतमुच्यते
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्।

दूसरों के लिए जो प्रिय हो, हितकर तथा सत्य हो—ऐसे वचन को सत्य कहा है। अप्रिय और अहितकर वचन सत्य हो तो भी अवक्तव्य है। क्योंकि वैसा वचन दूसरों के लिए खेद तथा अनर्थ का कारण बनता है। हास्य, लोभ, भय, क्रोध का प्रत्याख्यान करके निरंतर विचारपूर्वक बोलने से सत्यव्रत की साधना पुष्ट होती है। वासट नामक विद्वान ने लिखा है—सत्य एक रानी है, जिसका सिंहासन हमेशा स्वर्ग में रहता है। सत्यभाषी अनेक सदगुणों का स्वामी होता है। गांधीजी ने सत्य को अपनाकर संसार को एक संदेश दिया कि सत्य, अहिंसा व ब्रह्मचर्य ही मानव की सच्ची पूंजी हैं।

सत्य-पथ पर चलने वाले का मन सदा शांत, चित्त शीतल और हृदय सागर के समान विशाल होता है। उसकी बुद्धि हंस के समान होती है, जो सब ओर से गुण रूपी मोती ग्रहण करके स्वयं को गुणवान बना लेता है। वह दुनिया में सत्य का प्रकाश फैलाता है। सत्यवादी सदा निर्भय, निर्मान और गतिशील रहता है। कई लोग सत्य को कूड़े-कचरे से दबाने का प्रयास करते हैं, किंतु सत्य का सूरज कभी दबता नहीं। एक दिन सत्य अपनी संपूर्ण शक्ति से बाहर आकर मानव-मन को हिला कर रख देता है। उस समय सत्य को दबाने वाले सोच में पड़ जाते हैं कि यह विस्फोट कहां से हुआ? झूठ के सारे हथकंडे उसके ही हाथों में हथकड़ी डाल देते हैं।

स्पष्ट भाषण किसे अच्छा नहीं लगता। वाणी स्पष्ट हो, वाणी में किसी भी प्रकार असत्य, मायादि का मिश्रण न हो। 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा।' ऐसी मिश्र भाषा का प्रयोग करते ही जमीन के ऊपर रहने वाला रथ जमीन पर आ धंस गया। हां, स्पष्ट बोलने से पूर्व इन बातों का अवश्य खयाल रखें—

काम करे सुविचार कर, बोले वचन विचार।
और रहे सन्तुष्ट, ये तीन शांति के द्वार।।

भाषा-प्रयोग के इन पांच सूत्रों का सावधानीपूर्वक प्रयोग करने वाला लोकवल्लभ होता है, वह सबमें प्रीति उत्पन्न करता है। भाषा-विवेक का प्रयोगकर्ता स्व-पर कल्याण करता हुआ जीवन को सुखमय, शांतिमय व निरामय बना लेता है। ❖

शत्रु क्या है—खोज करें

❑ समणी सत्यप्रज्ञा ❑

विश्व में शांति हो, यह कौन नहीं चाहता। विश्व-शांति आज की अपेक्षा ही नहीं, एक अनिवार्यता भी है।

हिंसा सबसे पहले मस्तिष्क में पैदा होती है और फिर योजनापूर्वक बाहर निकलती है। हिंसा भले किसी भी इरादे से हो, पर वह लौटकर उसी पर आती है—इस सचाई को समझना जरूरी है। हममें पैदा होने वाले प्रकंपन लौट कर हम पर ही आ पड़ते हैं। हमारे मन में किसी के प्रति यदि वैर-भाव है अथवा हम किसी का अहित चाहते हैं, तो प्रकंपनों से उस व्यक्ति का आशय, मनःस्थिति पकड़ी जा सकती है। यदि हम किसी को धोखा देना चाहते हैं, तो सामने वाले को भी धोखा देने के लिए उकसाते हैं। तात्पर्य यह कि हम यदि अपने भीतर शांति न खोज सकें, तो कहीं बाहर शांति खोजना व्यर्थ है। जब भी कोई हाथ में पत्थर उठाता है, तो समझिए कि उससे पहला जख्म इंसान को नहीं, इंसानियत को लगता है। जब खून का पहला कतरा धरती पर पड़ता है, तो वह खून किसी इंसान का नहीं, इंसानियत का ही बहता है और जब भी कोई पहली लाश धरती पर बिछती है तो वह इंसान की नहीं, इंसानियत की ही बिछती है।

> यदि हम मनुष्यों को मारने पर ही उतारू रहे तो आखिरकार हम रहेंगे किसके साथ! इसीलिए जरूरी है कि सोच का नजरिया बदले। 'शत्रु क्या है' की खोज कर उसे समाप्त करने का सामूहिक प्रयास किया जाए और दुनिया का नजारा भी बदला जाए। मनुष्य कभी भी इतिहास के अंत की ओर अग्रसर नहीं होना चाहता। वह प्रेम और मैत्री, सत्य और सृजनशीलता के आधार पर नए संसार को रचने के लिए सामूहिक रूप से प्रयत्नशील होना चाहता है।

सर्वशक्तिमान देश यदि शस्त्रों को बढ़ावा न देते, घातक हथियार नहीं बनाते, प्रहार का प्रशिक्षण नहीं देते तो शायद जघन्य हादसे विश्व के इतिहास पर अंकित भी नहीं होते।

लेकिन जो हो गया, उस पर आंसू बहाने का समय अब नहीं है। यह तो जागने के लिए आह्वान का समय है कि अभी भी यदि मनुष्य का विवेक नहीं जागा तो हिंसा अपना तांडव दिखाती रहेगी और विनाश के सिवा शेष कुछ भी न बचेगा। यदि अब भी नहीं जागे और यदि हमारी सभ्यता नष्ट हुई, तो उसका कारण यह नहीं होगा कि हमें यह पता नहीं था कि सभ्यता की रक्षा करने के लिए क्या आवश्यक है, अपितु यह होगा कि रोगी दवा न लेने की जिद पर अड़ा हुआ है।

हिंसा या अहिंसा का संबंध केवल प्राणी-वध करने, न करने से ही नहीं जुड़ा है। आगम की भाषा में किसी का प्राणवध करने के लिए कायिक चेष्टा करना भी हिंसा है। यह कायिकी क्रिया है। आगम की भाषा में शस्त्र का प्रयोग करना आधिकरणिकी क्रिया है। मन का द्वेषपूर्ण होना भी हिंसा है और आगम की भाषा में वह प्रादोषिकी क्रिया है। परिताप देना भी हिंसा है और आगम की भाषा में वह पारितापनिकी क्रिया है। प्राण वियोजनात्मक हिंसा प्राणातिपात क्रिया है। अहिंसा को वस्त्र की तरह ओढ़ा-उतारा नहीं जा सकता है। इसका तो अंतस्तल में अभिन्न निवास हो, प्रेम-मैत्री के रूप में सकारात्मक रूप उभर कर सामने आए और मन, वचन व प्रवृत्ति में अहिंसा आकार ले—तभी शांति की बात संभव है। शांति और व्यवस्थित स्वाधीनता के सामाजिक सिद्धांतों को समझने की नैतिक ऊर्जा व सूझ-बूझ हममें है। अपेक्षा सामूहिक रूप से उसके उपयोग की है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार शस्त्रों ने विश्व के मुखड़े को लहूलुहान किया है। जड़ को पहचाने बिना आतंक को मिटाने की बात पारे को दबाने के प्रयास की-सी साबित होगी। आक्रमण के बाद प्रत्याक्रमण और हिंसा के बाद प्रतिहिंसा का चक्र कभी विराम नहीं लेता है। खून से रंगे वस्त्र को क्या कभी खून से धोया जा सकता है?

इसलिए जरूरी है कि शक्तिसंपन्न राष्ट्र और सत्ता-प्रतिष्ठान विवेक से काम लेने की बात याद करें और प्रार्थना करें कि एडम जिस तरह इस धरती पर पहला मानव कहलाया था, पर मैं इस धरती का अंतिम व्यक्ति नहीं बनना चाहता। युद्ध किसी समस्या का समाधान नहीं है। युद्ध के बाद जय-पराजय जैसे शब्दों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। सर्वनाश ही उसका परिणाम होता है। अतः इस दुनिया को सर्वनाश से बचाएं।

विश्व के पटल पर उभरने वाली परिस्थितियों ने हमें चिंतन के उस कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है कि 'शत्रु कौन है?' के बजाय 'शत्रु क्या है'—के समाधान पर तीव्रता से सोचें।

यदि हम मनुष्यों को मारने पर ही उतारू रहे तो आखिरकार हम रहेंगे किसके साथ! इसीलिए जरूरी है कि सोच का नजरिया बदले। 'शत्रु क्या है' की खोज कर उसे समाप्त करने का सामूहिक प्रयास किया जाए और दुनिया का नजारा भी बदला जाए। मनुष्य कभी भी इतिहास के अंत की ओर अग्रसर नहीं होना चाहता। वह प्रेम और मैत्री, सत्य और सृजनशीलता के आधार पर नए संसार को रचने के लिए सामूहिक रूप से प्रयत्नशील होना चाहता है। जहां से प्रेम का प्रारंभ होता है, वहीं से हिंसा समाप्त होती है। अपने छोटे-से संसार—घर—में शांति का माध्यम हम बन सकते हैं। गलाकाट प्रतिस्पर्धा के इस जगत से दूर हट कर तटस्थ दृष्टि से हर पहलू की ओर झांकने की शक्ति के साथ इच्छा-संयम के बल से हम अपने को शांति व सुख से समृद्ध कर सकते हैं। शस्त्रों के भय से मानवता को जीवन नहीं दिया जा सकता। भय की स्थिति में अन्याय से जूझने की सामर्थ्य हासिल नहीं हो सकती और न स्थाई समाधान की बात सोची जा सकती है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार हिंसा के अनेक कारण हैं, अनेक परिस्थितियां हैं और अनेक अवधारणाएं हैं। जातीय उन्माद के पीछे अहंकार के अभिनिवेश की अवधारणा है और सांप्रदायिक अभिनिवेश के पीछे अपने मत को सर्वश्रेष्ठ मानने की अवधारणा है। इन्हीं अवधारणाओं ने व्यक्ति को हिंसा की भूमि पर खड़ा किया है। आक्रामक हिंसा से समाज भयभीत है और अनावश्यक हिंसा से पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। मादक वस्तुओं का सेवन अपराध को मुक्त निमंत्रण है। आर्थिक विकास के नाम पर उपभोक्तावादी सामग्री की प्रचुरता बढ़ी है। इससे हिंसा और अपराध में कमी नहीं ला सकते, यह तो इन्हें बढ़ाने में ही योगभूत हैं।

श्रम, अर्थ और संयम के सामंजस्यपूर्ण विकास पर मानवता का भविष्य निर्भर है। हमारा शिक्षण-प्रशिक्षण इन तीनों पर आधारित हो तो शांति की बात सोची जा सकती है। आचार्य तुलसी के शब्दों में—'आज व्यक्ति हिंसा की उपरति देखना चाहता है, युद्धविराम की बात सुनना चाहता है और संघर्ष की जड़ें काटना चाहता है। वह अनुभव कर रहा है कि किसी अज्ञात शक्ति ने उसकी शांति का उपहरण कर लिया है।

जीवन का आध्यात्मिक पक्ष संयम है और सब जीवों के प्रति संयम ही अहिंसा है। हर प्राणी जीना चाहता है। जो जीने के इच्छुक हों वे दूसरों को मारने की बात नहीं सोच सकते हैं। 'औरों की मृत्यु और अपना जीवन'—यह संगति कभी नहीं बैठ सकती। संयम का सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए भगवान महावीर ने कहा—'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए'—संसार के सभी तत्त्व अपनी-अपनी स्थिति में रहें, किसी का कोई नुकसान न करें। कोई किसी को बाधा न पहुंचाए और किसी का अस्तित्व बाधित नहीं हो।

आज सबसे बड़ी समस्या मस्तिष्क में पैदा होने वाला असंयम, संघर्ष, हिंसा और युद्ध हैं। अतः जब तक 'ब्रेन-वॉशिंग' नहीं होगा और मस्तिष्क में उठने वाले विचार शांतिपूर्ण नहीं होंगे—तब तक दुनिया कांपती रहेगी, तब तक आचरण की स्वस्थता की बात सोची नहीं जा सकती। मनुष्य-मनुष्य का 'ब्रेन-वॉशिंग' हो जाए तो परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार तथा समूचा पर्यावरण स्वस्थ हो सकता है। संयम ही जीवन है, असंयम मौत है। वक्त रहते संयम की यह बात सबके समझ व आचरण से जुड़ जाए तो हिंसा की समस्या को स्थाई समाधान दिया जा सकता है। जहां हृदय में निर्भयता हो, मस्तिष्क अन्याय के सामने झुकता न हो—उस दिव्य स्वतंत्रता के प्रकाश से विश्व-मानस प्रकाशित हो सके—ऐसे सामूहिक प्रयास की अपेक्षा है। व्यक्ति प्रतीक्षा कर रहा है कि कोई उसे बचाए, उसे त्राण दे, लेकिन जब तक वह स्वयं अपने आचरण के प्रति सजग नहीं बनेगा, संसार की कोई भी शक्ति उसे सुख और शांति का वरदान नहीं दे सकती। महाआरंभ और महापरिग्रह में उफनती हुई आकांक्षा की इस नदी में संयम ही नौका बन कर व्यक्ति का सहयोग कर सकता है। ❖

कहानी

मुझे मेरा बचपन वापस दो

❑ तोलेटि जगन्मोहन राव ❑

'चिन्ना, उठो बेटा...छै बजने को हैं।'

आठ साल के रांबाबू को मां की आवाज नींद में कुएं से आती हुई प्रतीत हुई। उसकी आंखें नहीं खुलीं। उसकी सीप-सी पलकें जरा-सी हिलीं, पर वह सोता ही रहा।

'उठो न, सवा छै बज गए।' पंद्रह मिनट बाद बाप की कठोर आवाज सुनते ही उसने चौंक कर आंखें खोलीं। पलंग के पास खड़े होकर हजामत करते हुए प्रभाकर जोर से बोला, 'यह रोज-रोज का तमाशा हो गया। घंटों तुम्हें जगाने में लग जाते हैं, हमारे पास इतना समय नहीं है। चल, उठ जा...'

रांबाबू ने अंगड़ाई लेकर हाथ-पैर हिलाए, पर उठने की लाख कोशिश करने पर भी उसे अपना शरीर भारी लगा और वह उठ नहीं सका। उसकी आंखें फिर बंद होने लगीं। प्रभाकर और जोर-से चिल्लाया। उसकी आवाज सुन कर विमला दौड़ती आई। उसने बेटे को गोद में उठा कर पलंग से उतारा और वॉश-बेसिन के सामने ले जाकर ब्रश पकड़ा दिया।

'वह अपने-आप मुंह धो लेगा। तुम जाकर उसका बैग तैयार करो...नहीं, उसका बैग मैं तैयार करता हूं....तुम उसका खाना और पानी का बॉटिल पैक करो', प्रभाकर ने कहा।

मुंह धोकर रांबाबू खाने की मेज पर बैठा तो विमला ने उसे ब्रेड और दूध का गिलास पकड़ा दिया।

'मुझे भूख नहीं है मां! ब्रेड नहीं चाहिए, दूध पी लूंगा।' आठ घंटे सोने के बाद भी उसका शरीर उसकी बात नहीं मान रहा था। नींद का भारीपन और कमजोरी अभी भी थी। उसे खाने की नहीं, फिर से सो जाने की इच्छा हो रही थी।

'भूख कैसे नहीं है? स्कूल में भूख लगेगी तो? लंच पीरियड तक बिना कुछ खाए कैसे रहेगा? जिद मत करो, खा लो', विमला ने कहा।

घड़ी के साथ दौड़ना रांबाबू के बस की बात नहीं थी; अभी वह छोटा है न! पैर हिलाता हुआ, खिड़की से बाहर देखता हुआ वह आराम से दूध पी रहा था।

'क्या कर रहे हो चिन्ना? दूध पीने में आधा घंटा लगा रहे हो, जल्दी-जल्दी पी लो, स्कूल का वक्त हो रहा है!' विमला ने यह कहते हुए उसे अपने हाथ से दूध पिलाया। उसे ड्रेस पहनाई, बूट पहनाए, टाई बांधी और कंघी करके पाउडर लगाते हुए कहा, 'चिन्ना, सामने वाले कमरे की चाबी बैग में है—संभाल कर रखना, कहीं गिराना नहीं। मेज पर नाश्ता और फ्लास्क में दूध रख के जाऊंगी। स्कूल से आकर हाथ-मुंह धो लेना और कपड़े बदल कर नाश्ता कर लेना। होमवर्क भी पूरा कर लेना। तब तक हम दोनों दफ्तर से आ जाएंगे।

रांबाबू ने 'ठीक है।' कहा और थोड़ी देर रुक कर बोला, 'मां...मां...'

'क्या है बेटा?'

> 'मैं कल से स्कूल नहीं जाऊंगा। आराम से घर में बैठूंगा।' उसने मन-ही-मन तय किया। घर की बात सोचते ही बाप की याद आई। उन्हें 'प्रोग्रेस कार्ड' दिखाना पड़ेगा। अच्छा रैंक नहीं मिला तो उन्हें गुस्सा आएगा। वैसे भी बात-बात पर उन्हें गुस्सा आता ही है। पता नहीं, वे क्या पूछेंगे और मैं क्या जवाब दूंगा। उसे बहुत डर लगने लगा। इस बार अगर वे डांटेंगे तो मैं घर छोड़ कर भाग जाऊंगा। पर कहां जाऊंगा? कहां रहूंगा? खाना कौन देगा?
>
> स्कूल जाने में डर लगता है, घर जाने में भी डर लगता है। उसे रोना आ गया। रोते-रोते होमवर्क की किताबें निकालीं।

वह दाएं हाथ की दो उंगलियां दिखाने ही वाला था कि बाहर से प्रभाकर चिल्लाया, 'स्कूल बस आ जाएगी, अब क्या देरी है?'

'हो गया, बस!' कह कर विमला ने बेटे से पूछा, 'क्या बात है? जल्दी बता! देर हो रही है।'

'कुछ नहीं मां!' रांबाबू ने जल्दी से हाथ नीचे कर लिया।

'कुछ नहीं है, तो फिर बैग उठा और चल!'

रांबाबू बैग उठा कर बाहर की ओर दौड़ा। प्रभाकर स्कूटर पर तैयार बैठा था। वह चिढ़ रहा था। रांबाबू आगे खड़ा हो गया तो स्कूटर चल पड़ा। बस स्टाप तक पहुंचते ही बस भी आ गई।

'बेटे, कल से और भी जल्दी उठना पड़ेगा। जरा देर हो जाती तो बस चली गई होती।' रांबाबू ने सिर हिलाया, बाप को 'टा टा' किया और बस में चढ़ गया।

× × ×

घर लौटा तो दो बज गए थे। अंदर आते ही किताबें और पानी की बोतल एक ओर फेंक दी। जूते उतारे और सोफे पर लेट गया। बाद में जब वॉश-बेसिन में हाथ-मुंह धोते हुए उसने अपने चेहरे की तरफ देखा, उसका बायां गाल लाल था। उस पर टीचर की उंगलियों के निशान थे।

क्लास में उस दिन टीचर ने प्रोग्रेस कार्ड दिया था। रांबाबू का क्लास में आखिरी स्थान था। टीचर ने प्रोजेक्ट भी करने को दिया था—ताजमहल की तस्वीर पर रंगीन शीशे चिपका कर लाना था। रांबाबू ने यह बात मां को बता दी थी, मगर मां ने कहा, 'मुझे फुर्सत नहीं है, बाद में देखेंगे।' प्रोजेक्ट वाला वह काम पूरा नहीं हो सका था। इन दोनों कारणों से टीचर को गुस्सा आया। उसने उसे जोर का तमाचा लगाया और दो पीरियड तक बेंच पर खड़ा रहने को कहा। रांबाबू को इतना गुस्सा आया कि टीचर को मार डाले, पर कुछ भी नहीं कर सकता था। उस अपमान को सहते हुए वह दो पीरियड वैसे ही खड़ा रहा।

'मैं कल से स्कूल नहीं जाऊंगा। आराम से घर में बैठूंगा।' उसने मन-ही-मन तय किया। घर की बात सोचते ही बाप की याद आई। उन्हें 'प्रोग्रेस कार्ड' दिखाना पड़ेगा। अच्छा रैंक नहीं मिला तो उन्हें गुस्सा आएगा। वैसे भी बात-बात पर उन्हें गुस्सा आता ही है। पता नहीं, वे क्या पूछेंगे और मैं क्या जवाब दूंगा। उसे बहुत डर लगने लगा। इस बार अगर वे डांटेंगे तो मैं घर छोड़ कर भाग जाऊंगा। पर कहां जाऊंगा? कहां रहूंगा? खाना कौन देगा?

स्कूल जाने में डर लगता है, घर जाने में भी डर लगता है। उसे रोना आ गया। रोते-रोते होमवर्क की किताबें निकालीं।

'The Planets revolve around the Sun...The earth spins on its Axis'...Axis का मतलब क्या होता है? साइंस की किताबें फेंक घर मैथ्स की किताब निकाली।

'The side of a square is twice as long as the side of another square. How many times is the perimeter of the first square than the perimeter of the second square?'

The side of a square...perimeter of the square...यह पढ़ाई मुझसे नहीं होगी। मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आता है। स्कूल में टीचर मारती है, घर में पिताजी डांटेंगे तो मैं घर से भागूंगा नहीं...मर जाऊंगा...मैं मरना चाहता हूं...'I want to dye' होमवर्क की कापी में अपने मन की यह बात बिना सोचे लिख डाली। वह फ़िर रोने लग गया। रोते-रोते सो गया।

पांच बजे के करीब उसकी आंख खुली। सोने के बाद उसका मन थोड़ा हल्का हुआ। उसे भूख लगने लगी। मेज पर रखा नाश्ता खाया और दूध पी लिया। नीचे बच्चे खेल रहे थे, वह खिड़की में से उन्हें देखने लगा। बच्चे हंस रहे थे, एक-दूसरे को धक्का देते हुए, गिरते-दौड़ते मजे में खेल रहे थे। उन्हें देखने में रांबाबू को बड़ा मजा आ रहा था। वह खिड़की पर चढ़ कर सलाखों को पकड़ कर झूलने लगा। तभी घंटी बजी।

'मां आ गई।' कहते हुए खिड़की से उतरा और दरवाजा खोलने दौड़ा।

'नाश्ता किया?' पूछते हुए विमला ने कमरे में नजर दौड़ाई। किताबें एक तरफ, पानी की बोतल एक तरफ, कमरे में सब चीजें तितर-बितर थीं।

'घर को कैसा बना दिया चिन्ना, साफ रखना चाहिए न!' कह कर चीजों को अपनी-अपनी जगह पर रखने लगी।

'मां, थोड़ी देर के लिए खेलने जाऊं?' धीरे-से मां के पास आकर उसने पूछा।

'होमवर्क खत्म कर लिया?'

'आ के कर लूंगा।'

'जा, पर जल्दी आ जाना। कपड़े गंदे न करना।' मां की अनुमति मिलते ही वह दौड़ कर बाहर चला गया।

रात के आठ बज रहे थे। प्रभाकर आंधी की तरह आया। आते ही गुस्से से पूछा, 'कहां है तुम्हारा लाड़ला?'

'क्यों? दूसरे कमरे में टी.वी. देख रहा है।'

'बुलाओ उसे। मालूम है, उसकी वजह से मुझे क्या-क्या सुनना पड़ा? उस के प्रिंसिपल ने दफ्तर में फोन करके भला-बुरा कहा। कह रही थीं कि हम उसकी पढ़ाई की तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं। अगर उसने काम में सुधार नहीं किया तो टी.सी. देकर स्कूल से बाहर कर देंगी। छिः छिः, दौड़-धूप करके दो हजार डोनेशन देने के बाद साहबजादे को अच्छे स्कूल में दाखिला मिला। हमने उसी की भलाई के लिए ही तो यह सब किया था, पर यह बेवकूफ तो...' बाप की आवाज सुनकर रांबाबू हॉल में आया। गुस्से से लाल होते हुए प्रभाकर ने पूछा, 'तेरा 'प्राग्रेस कार्ड' कहां है रे?'

खेल और टी.वी. में खोकर रांबाबू स्कूल को थोड़ी देर के लिए भूल गया था। अब याद आते ही उसकी आंखें भर आईं। उसके चेहरे का रंग उड़ गया।

'बैग में है', उसने दबी आवाज में कहा। पिता के क्रोध के डर से उसका दिल जोर-जोर से धड़कने लगा।

'32वां रैंक!' प्रभाकर ने कार्ड को जमीन पर पटक दिया। बच्चा चौंक पड़ा।

'पहले पांच नंबरों में आने को कहा था या नहीं? हर रोज स्कूल में जो पढ़ाया जाता है, उसे दुबारा घर पर पढ़ने को कहा था न?'

डरते हुए रांबाबू ने सिर हिलाया।

'सिर मत हिलाओ, मुंह से बोलो।'

'बताया था।'

'वैसे ही पढ़ाई कर रहे हो?'

'हां, कर रहा हूं?'

'आज का होमवर्क किया?'

'अभी नहीं किया।'

'क्यों नहीं किया?'

'...'

'तुम्हारी कापियां कहां हैं?' प्रभाकर गला फाड़कर चिल्लाया। रांबाबू ने कांपते हुए किताबें निकालीं। प्रभाकर पन्ने पलट कर देख रहा था। देखा, 'I want to dye', लिखा हुआ था।

''डाई' की स्पेलिंग क्या है?' प्रभाकर को उस वाक्य में हिज्जे की गलती ही दिखाई दी। बच्चे ने कॉपी में ऐसा क्यों लिखा? उसने सोचा ही नहीं।

रांबाबू फिर कांपने लगा।

'बता!' दांत चबाते हुए प्रभाकर फिर चिल्लाया।

'डी...वाइ...ई...'

'तेरा सर...'डी...आइ...ई...।' इसे सौ बार लिख के दिखा।'

बच्चे को थर-थर कांपते देखकर विमला को तरस आ गया। उसे गोद में लेकर प्यार करने की इच्छा हुई। पर, उसने सोचा कि जब प्रभाकर डांट रहा है तो उसे ऐसा नहीं क़रना चाहिए। फिर बच्चे के मन में उनके लिए आदर नहीं रहेगा। फिर भी उसने बात बदलते हुए कहा, 'आते ही आप उसे लेकर बैठ गए? हाथ-मुंह धो लीजिए, फिर आराम से पूछ लेना, जो-कुछ पूछना है।' यह कह कर वह पति के गुस्से को ठंडा करने की कोशिश करने लगी। प्रभाकर अंदर चला गया।

खाना खाते वक्त भी प्रिंसिपल की बातें याद करके वह आग-बबूला होने लगा। 'स्कूल में क्या पढ़ाते हैं? क्या यह पढ़ाई है? यह तो एक 'रैकेट' है। सैकड़ों रुपए की फीस देने के बाद भी रोज चार घंटे उसका होमवर्क कराने में हमारे बीत जाते हैं। यह कैसा तरीका है? हम क्यों कराएं बच्चे का होमवर्क? वह तो उसी का काम है। उसे ही करना चाहिए। न जाने इसके सिर में अक्ल नाम की चीज है भी या नहीं...' फिर बेटे पर गुस्सा आया। एक-दो बार गुस्सा न रोक पाने के कारण वह फिर बेटे को डांटने के लिए मुंह खोलने लगा तो विमला ने इशारे से मना किया कि खाते वक्त गुस्सा न करें।

रांबाबू सिर झुका कर खा रहा था। मां-बाप की ओर देखने की उसमें हिम्मत ही नहीं थी। खाना उसके गले से नीचे नहीं उतर रहा था। वह जानता था कि अभी यह तूफान थमा नहीं है। यह फिर से उठने वाला है। खाने के बाद प्रभाकर कमरे में टहलने लगा और बीच-बीच में बेटे की ओर घूरने लगा। पर रांबाबू पिता की आंखों से आंखें मिला नहीं पा रहा था। वह इधर-उधर देख रहा था। धड़कते दिल से ज्वालामुखी के फिर फूटने के इंतजार में घड़ियां गिनता हुआ बैठा था।

'नंबर कम क्यों आए?' टहलना बंद करके प्रभाकर बेटे के सामने खड़ा हो गया और धीमी आवाज में पूछा।

तब रात के साढ़े नौ बजे थे। विमला भी काम खत्म करके वहीं आकर बैठ गई थी।

बाप को सामने खड़ा देखकर बच्चा हड़बड़ाया। हाथों को मसलते हुए घबराहट में मां की ओर देखने लगा। मां ने जब कुछ नहीं कहा तो रोनी-सी आवाज में बोला, 'पता नहीं।'

'पेपर ठीक किया था?'

'हां, ठीक किया था।'

'ठीक करने पर भी तुझे नंबर नहीं मिले?'

'...'

'अच्छा, यह तो बता कि पाठ तेरे समझ में आ रहे हैं या नहीं?...जब बाकी सब बच्चों को समझ आ रहा है तो इसे क्यों नहीं आता? अहमक कहीं का!' फिर प्रभाकर को गुस्सा चढ़ गया, 'तेरी भलाई के लिए, तुझे अच्छी शिक्षा दिलाने के लिए पैसे फूंक रहा हूं। हम लोगों को ऊंची पढ़ाई करने का मौका नहीं मिला था। इसीलिए अपने से भी कम दिमाग वालों को सलाम करने की नौबत आ गई है। इस प्रकार की छोटी नौकरियां करनी पड़ रही हैं। तुझे ऐसी नौकरियों में सड़ना न पड़े, इसीलिए हम तुझ पर इतना ध्यान दे रहे हैं। पर, तू है कि पढ़ाई की कोई चिंता नहीं। हम दोनों कमा रहे हैं, इसीलिए तो घर में टी.वी., फ्रिज, स्कूटर वगैरह हैं, नहीं तो हमारे पास क्या है! बस, मैरिट में आ गए तो जिंदगी बन जाएगी, नहीं तो भीख मांगने के काबिल भी नहीं रहोगे।' अपना सारा 'फ्रस्ट्रेशन' प्रभाकर ने बेटे पर उतारा।

प्रभाकर की बातें रांबाबू की समझ में नहीं आई। वह ऐसे बैठा था, मानो कांटों पर बैठा हो। वह इस अग्नि-परीक्षा की समाप्ति का इंतजार करने लगा। इस भाषण के बाद प्रभाकर का जोश थोड़ा शांत हो गया। वह अपने कमरे में चला गया। विमला ने रांबाबू के पंलग को ठीक किया। उसे सोने को कह कर अपने कमरे में जाने लगी, तो उसने मां का आंचल पकड़ लिया। बाप को कहीं सुनाई न दे, इसीलिए दबी आवाज में बोला, 'मां, आज तुम मेरे पास सोओगी?'

स्कूल में उसके साथ किया गया सलूक, पिता का क्रोध—मां की गोद में दुबक कर वह सब-कुछ भूल जाना चाहता था। वह इस तरह अपना अपमान और दुख भूल जाना चाहता था।

'ठीक है', कह कर विमला उसके पास लेट गई। उसे बहुत खुशी हुई। एक हाथ और एक पैर मां के ऊपर डालकर उससे लिपट गया। विमला उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहने लगी, 'देख बेटे, पिताजी तेरी भलाई कि लिए ही डांटते हैं। तू यह मत समझना कि वे तुझ से प्यार नहीं करते। तेरे लिए कितने खिलौने और किताबें खरीद कर लाते हैं—है न?'

बच्चा इस आशा में था कि मां उसे तसल्ली देगी, उसका दुख दूर करेगी। पर जब उसने मां की बातें सुनीं तो उसे और भी अधिक दुख हुआ। उसने मां पर से अपने हाथ और पैरा हटा लिए और दूर सरक कर लेट गया। विमला ने ध्यान नहीं दिया, और बोलती गई, 'हर रोज अपने पाठ याद कर लेना। स्कूल में टीचर जो पढ़ाती हैं, उसे ध्यान से सुनना। अच्छा ट्यूटर मिलने पर ट्यूशन लगवा दूंगी। स्कूल में पढ़ाया हुआ पाठ समझ में न आए तो ट्यूटर से पूछ लेना। तुम अच्छी तरह पढ़ो, पढ़कर जीवन में कुछ बनो, यही हमारी इच्छा है, पढ़ोगे न?'

× × ×

'जीवन में कुछ बनकर ऊंचा उठने का मतलब तो मैं नहीं जानता, पर मुझे बहुत-सी बातें जानने की बड़ी इच्छा होती है। यह दुनिया बड़ी अनोखी, एक सुंदर पहेली-सी लगती है। कल जो बीज बोया, उससे आज जब पौधा फूटता है तो मुझे यह बात विचित्र लगती है, अचरज होता है। मैं तारों के बारे में, कार, स्कूटर, हवाई जहाज, रॉकेट, इन सबके बारे में जानना चाहता हूं। यही नहीं, पड़ोस में रहने वाली दीदी जब 'चंदामामा' पढ़कर कहानियां सुनाती है तो मुझे बहुत आनंद आता है। इच्छा होती है कि मैं भी ऐसी कहानियां उसे सुनाऊं। शाम को जब गलियों में शोर मचाते बच्चे पतंग उड़ाते हुए, गेंद से खेलते हुए दिखाई देते हैं तो मन करता है कि मैं भी उन के साथ खेलूं। मेरा मन बिल्कुल नहीं करता कि मैं अकेला घर बैठकर होमवर्क करूं। किताबों में पढ़कर बहुत-सी बातें जानने की इच्छा तो है, पर स्कूल की किताबों में लिखे पाठ रट कर टेपरिकार्डर की तरह उन्हें दोहराने में या कॉपियों में प्रश्नों के सही उत्तर उतारने में कोई मजा नहीं आता। पढ़ाई के नाम पर मेरी छोटी-छोटी इच्छाओं को मसल कर मुझे 'नंबर स्कोर' करने वाले कंप्यूटर की तरह मत बदल डालिए। मेरे बचपन को मुझसे मत छीनिए!' अपने मन में उठने वाली भावनाओं को ऐसे साफ शब्दों में बताने के लिए उसके पास सुघड़ भाषा नहीं थी, क्योंकि वह बहुत छोटा था। मुंह खोलता तो रोना ही आता! इसलिए होंठों को दांतों में दबा कर वह 'हां' कह

कर चुप हो गया। मां के पास लेटने का आनंद गायब हो गया। मां का स्पर्श उसे तसल्ली नहीं दे रहा था। वह मां की निकटता को सह नहीं पाया।

'क्यों, क्या हुआ, अपने पास सोने को कहा था न? क्या मुझसे रूठ गए?' विमला ने कहा, 'ठीक है, फिर गुडनाइट बोलो।' कह कर विमला ने उसका गाल चूम लिया। 'गुडनाइट' कहकर उसने भी मां को चूमा, पर, उसमें क्या मां के प्रति कोई प्यार था?

विमला ने उसे चादर उढ़ाया और दूसरे कमरे में चली गई। दरवाजा बंद करके वह प्रभाकर से बोली, 'देखिए, वह कितना घबराया हुआ है! वह भी क्या करे, मन लगाकर पढ़ तो रहा है न! शुरू से ही वह पढ़ाई में एवरेज था, यह तो हम जानते ही हैं। अंग्रेजी माध्यम में वह पाठ समझ नहीं पा रहा है। सबके दिमाग एक जैसे नहीं होते। कुछ बच्चे एक ही बार में बात समझ लेते हैं; कुछ बच्चों को दस बार समझाना पड़ता है। वैसे भी स्कूल जीवन का एक भाग है, वही जीवन नहीं है। स्कूल में अव्वल आने वाले आगे चलकर असफल भी हो जाते हैं। पढ़ाई में एवरेज रहने वाले ऊंचे ओहदों पर पहुचंने में समर्थ भी रहे हैं। न जाने इसमें कौन-सा कलाकार, वैज्ञानिक छिपा है! मैरिट में न आने पर उसे डांटने-पीटने से वह नर्वस हो जाएगा, पर क्या वह अव्वल आ सकेगा?' विमला को भी रोना आ गया।

प्रभाकर चुप रहा। वह भी यह सब जानता था। अगर शिक्षा का लक्ष्य विकास है, तो उस के लिए इतनी दौड़-धूप करने की जरूरत नहीं है। वह धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त करके अपनी शक्ति के अनुसार किसी-न-किसी क्षेत्र में अपना सामर्थ्य दिखा सकता है। पर...उसके लिए तो यही पढ़ाई रोजी-रोटी कमाने का साधन है। वह आने वाले कल का नागरिक है। यह जीवन एक दौड़ है। जो दौड़ना न जाने, वह पिछड़ जाता है। जो पिछड़ जाए, वह नष्ट हो जाता है। उसकी थकावट पर मां-बाप भले ही तरस खाएं, दुनिया तरस नहीं खाएगी। वह क्रूरता से उसे पैरों से रौंदती हुई आगे बढ़ जाएगी। अगर वह कदम-कदम पर स्कूल में, कॉलेज में, यूनिवर्सिटी में, नौकरी में, प्रतिस्पर्धा में भाग लेकर विजय हासिल करना चाहता है तो अभी से उसे इस 'रैट रेस' और 'अपजयों' का आदी बनना पड़ेगा। पर...कली तो समय आने पर ही फूल बनती है, अगर जबरदस्ती उसे फूल बनाया जाए तो क्या होगा?

प्रभाकर इन विचारों से परेशान हो गया। बेटे के भविष्य की चिंता उसे बेचैन कर रही थी। अभी दस साल का भी नहीं हुआ। विमला सही कह रही है, न जाने बड़ा होकर प्रतिभावान बन जाए! मैं बेकार अभी से परेशान होकर उसे सता रहा हूं। यह विचार भी उसे खाए जा रहा था। बच्चे को बड़ी परेशानी हो रही है। स्कूल बदल कर हिंदी माध्यम में डाल दिया जाए, तो? पर 'कांपिटीशन' तो सब जगह रहेगा ही। उसकी उलझन दूर नहीं हुई। सोच में डूबा वह बेटे के कमरे में गया और पलंग पर सोते हुए बच्चे के मासूम चेहरे की ओर देखता खड़ा रहा। उसके मन में करुणा और प्यार के भाव उमड़ पड़े। उसने बच्चे को चूम लिया।

रांबाबू तब तक सोने का नाटक कर रहा था। पिता के चले जाने के बाद उसने राहत की सांस ली। दूसरे कमरे की बत्ती बुझ गई। तब..उस अंधेरे में, अकेले में उसके मन का दुख फूट पड़ा। चादर में मुंह ढककर, बिना आवाज किए वह सिसक-सिसक कर रोने लगा। 'मैं मूर्ख हूं, मुझे पाठ याद नहीं रहते। अच्छे नंबर नहीं मिलते, मैं क्या करूं?' वह अपने-आप से बड़ी मासूमियत से सवाल करता हुआ, जवाब खुद ही देता हुआ थोड़ी ही देर में सो गया।

नींद में परेशानियां, तरह-तरह के डर, बीच में बिजली की चमक जैसी खुशियां...ट्रिन...ट्रिन...ट्रिन...ओपेन युवर बुक्स...रीड लेसन नंबर..फाइव... मैं अपनी पेंसिल दूंगा। मुझे कंचे दोगे?...What is Photo-synthesis स्टैंड अपान दि बेंच...When we multiply the Numerator...बस आ गई...चढ़ो-चढ़ो...The green colouring matter which is present in...स्टैंड अपान दि बेंच...दीदी क्या सचमुच राक्षसों के सींग और बड़े-बड़े दांत होते हैं?...To compare a mixed Numeral with an improper Fraction...

मेरी तो कुछ समझ में नहीं आ रहा है...रांबाबू, लास्ट रैंक...स्टैंड अपान दि बेंच...तेरा 'प्रोग्रेस कार्ड' कहां है?.... मैं भाग जाऊंगा...'प्रोग्रेस कार्ड'...मैं मर जाऊंगा... मैं मरना चाहता हूं...आई वांट टू डाइ...डी...आइ...ई... डी...आइ...ई...डाई... डी...वाइ...

'चिन्ना, उठ जा बेटा, छै बजने को हैं।' 'नींद में रांबाबू को मां की आवाज ऐसे सुनाई दी, मानो कहीं दूर कुएं से आ रही हो। उसकी नींद नहीं टूटी। सीप-जैसी पलकें थोड़ी हिलीं, पर...। ❖

तेलुगु से अनुवाद : **आर. शांत सुंदरी**

भारतभूषण अग्रवाल की कविता

•

सीमाएं : आत्म-स्वीकृति

है श्रांत तन, है क्लांत मन, मैं आज हूं निष्प्राण।
    आगे बिछी है राह
जानता हूं : यही है वह पथ कि जिस पर मिल सकेगी मुक्ति
    मेरी और सब की मुक्ति;
जानता हूं : यही है वह पथ कि जिस तक पहुंचने की
    थी हृदय में चाह
    जी में था अतुल उत्साह।
कड़ा करके जी, कमर कस, चल पड़ा था उस दिवस अम्लान
वंचितों के स्वत्व-संगर में चढ़ाने एक निज का दान
सोचता था : अब हुआ जीवन सफल, अब मिट गया अंधियार
    छूटे अब हमारे बंध
    तन के और मन के बंध
सोचता था : क्षुद्र मन के स्वार्थ पर ही था विगत आधार
    मैं था मूढ़, मैं था अंध।
यों तोड़ नाते, छोड़ चिंता, एक निश्चय की संभाले टेक
मैं चला बनने अनेकों सैनिकों में एक।

तब नहीं मैं जान पाया था—कठिन है राह यह कितनी,
तब नहीं मैं जान पाया था—क्षणिक है स्फूर्ति यह इतनी!
    आज है अचरज यही अत्यंत
    उस महा आरंभ का हा! क्षुद्र ऐसा अंत!
    दूर है, मंजिल अभी मेरी बड़ी ही दूर
    किंतु मैं तो बीच में ही आज थक कर चूर
    गिर पड़ा हूं राह पर।

    जा रहे हैं साथ के वर-वीर कसे-कमर
किंतु मैं अपने निजी कुछ मोह में, कुछ मूर्ख आशा में
इस अपूर्ण, अशक्त मन की स्वाभिलाषा में
अटक कर के रह गया हूं स्वयं अपने जाल में
वर्गवादी-हृदय के कटु व्यूह अति विकराल में
आज पहली बार मुझ को मिल सका है ज्ञान मन की परिधि का
    असहाय सीमाबद्ध अपनी शक्ति का।
शक्ति : जो यों चाहती है फैल जाए विश्व-भर की सर्वनाशा
    अपहरण की नींव पर
किंतु सीमा में बंधी, आकुल-घिरी, पथहारिणी बनकर
    फूट पाती है नहीं
    ढूंढ़ पाती है नहीं निज राह।
मानता हूं—सभी सीमाएं सदा मन-जात
किंतु मन क्या मुक्त है, उस पर नहीं क्या अपर बंधन?
जन्म जिस परिवार में मैंने लिया है,
जिस तरह की परिस्थितियों से यहां तक आ सकी है
    जिंदगी की सड़क मेरी
घूमती-फिरती अनेक मोड़ पर से काटती चक्कर
            उन
परिस्थितियों का पिता है वर्ग और समाज पूंजी का,
और, मेरे विकल मन की सभी सीमाएं
    वहीं से निःसृत हुई हैं।

❖❖

शीलन

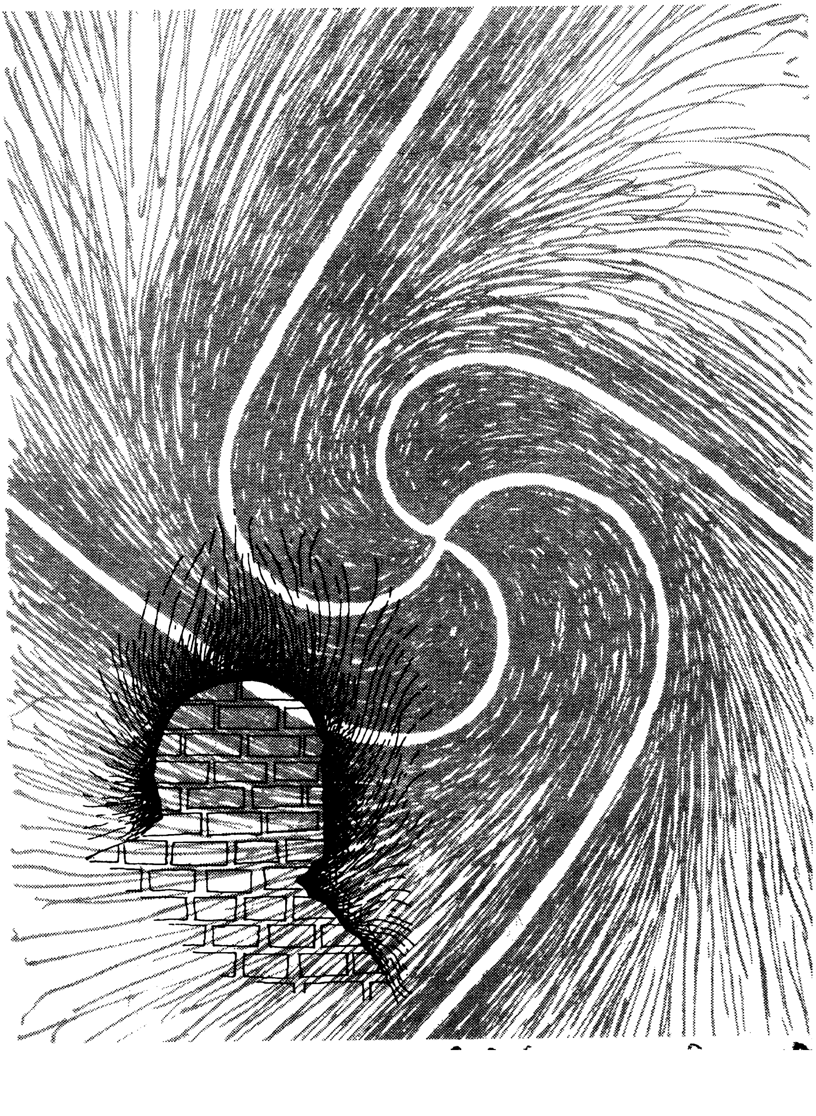

प्रकृति के नियमों तथा विज्ञान के चमत्कारों का अल्प ज्ञान कुछ लोगों के स्वभावों पर मदिरा का-सा काम करता है। यह परिणाम उस समय विशेष रूप से होता है, जब कि ज्ञान की प्राप्ति अप्रत्यक्ष रूप से की जाती है और यह वैयक्तिक प्रयत्न तथा गवेषणा के संस्कारी प्रभाव से वंचित रहता है। ऐसी स्थिति में उन लोगों का अनुपात-ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है। उनके लिए अज्ञात न केवल अज्ञात ही रहता है वरन् सर्वथा नष्ट हो जाता है। धार्मिक ग्रंथों को वे प्राचीन काल की मूर्खता मानने लगते हैं। कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़कर उन्हें पाखंड के उपकरण और उसके व्यवहार के लिए समझ-बूझकर तैयार की हुई युक्तियां बताने लगते हैं। परंतु जिन्होंने भौतिक विज्ञान का गंभीरतर अध्ययन करने का प्रयत्न किया है और, इस प्रकार, अपनी अनुपात-बुद्धि तथा निर्णय-शक्ति को कायम रखने के लिए पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे जानते हैं कि अज्ञात ज्ञात से कहीं अधिक विशाल है। अधिकाधिक समय बीतने के साथ-साथ मानव-बुद्धि उसके अधिकाधिक क्षेत्र को अपनी परिधि के अंदर ला सकती है, फिर भी अवशेष रहता ही है। उसकी न तो उपेक्षा की जा सकती है और न उसे मानव-बुद्धि की सीमा के अंतर्गत ही लाया जा सकता है। सच्चे वैज्ञानिक न केवल अपनी नम्रता कायम रखते हैं, वरन् प्रकृति के कुछ गुह्य रहस्यों के ज्ञान के कारण ही, उसका और भी अधिक नम्रता तथा भक्तिभाव से मनन करते हैं, जो कि सदैव मानवीय विश्लेषण की परिधि के परे रहने वाला है।

—राजगोपालाचार्य

संदर्भ : रक्षाबंधन पर्व

प्रेम और रक्षा का पवित्र प्रतीक

❑ *मुनि धर्मचंद 'पीयूष'* ❑

ऋषि-मुनियों, तीर्थंकरों की पवित्र चरण-रज से पवित्रीभूत भारत भूमि के तमाम पर्व परम पावनता का संदेश देते हैं। इन्हीं में से एक पर्व है—रक्षाबंधन। भाई-बहिन के निर्विकार प्रेम से पगे इस त्यौहार में न पटाखों के धमाके होते हैं, न बारूद की प्राणलेवा दुर्गंध और न हुलिया बिगाड़ होलिका का हा हा, हू-हू! परम पवित्र स्नेह और त्याग के सूत्रों से गुंफित यह पर्व एक राखी के कच्चे धागों मात्र में सिमटा है। पवित्र कर्तव्यनिष्ठा को जगा देने वाले सूत के ये कच्चे धागे हाथ को ही नहीं, वरन हृदय को भी बांध देते हैं। इनमें पवित्र प्रेम और त्याग का प्रेरक संदेश निहित है।

इस बात की पुष्टि में एक नहीं, अनेक घटनाएं जीवंत साक्षी हैं कि विरोधी से विरोधी व विधर्मी भी इन कच्चे धागों के सामने झुक गए। सर्वस्व होमकर भी रक्षा के दायित्व को आजीवन निभाते रहे। यह दिन रक्षा की गारंटी का दिन है। फिर चाहे पुराणानुसार भगवान विष्णु का वामन रूप बन बलि से इंद्र की रक्षा का हो, या जैन परंपरानुसार विष्णुकुमार मुनि का नमुचि से जैन मुनि-संघ की रक्षा का हो। रक्षाबंधन का यह पर्व रक्षा करने का प्राग्-ऐतिहासिक दिन है।

> एक जीवंत परंपरा का निर्वाहक यह रक्षापर्व, देश-जाति और प्राणीमात्र की रक्षा, पर्यावरण-सुरक्षा, व्रतों-नियमों-संकल्पों की रक्षा के साथ-साथ विभावों से आत्मा की रक्षा का पर्व बने—यह अपेक्षा है। इस पवित्र पर्व पर प्रत्येक नर-नारी शील-सदाचार, कर्तव्यपालन, दायित्वबोध का स्मरण करे। शिक्षक अपने दायित्वों का भली-भांति निर्वहन करें, व्यापारी-व्यापार में प्रामाणिकता का और राजनेता महामात्य चाणक्य के अनुरूप परम-त्याग का संकल्प लें। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग पवित्र संकल्प लेकर उसका सम्यक् पालन करे तो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का सही निर्माण हो सकता है।

पौराणिक प्रसंगानुसार महादानी बलि की दानवृत्ति से इंद्रासन डोल उठा था। उस समय अत्यंत चिंतित इंद्र की रक्षार्थ भगवान विष्णु ने वामन (मात्र 52 अंगुल) रूप धारण कर बलि से तीन या साढ़े तीन डग (पांव) जमीन की याचना की। बलि ने उपहास में कहा—मात्र तीन डग भूमि? बड़े-बड़े डगों से नापना। वामन रूप विष्णु का उत्तर था—हां राजन्! यही प्रयत्न करूंगा। कहा जाता है कि एक डग में ऊपर के सात लोक तथा दूसरे डग में नीचे के सात लोक नप गए। वामन बोलो—तीसरे से क्या नापूं? राजा बलि अवाक् रह गया। वामन रूप विष्णु ने कहा—राजन्! स्वीकार कर लो कि तीसरे पग के लिए भूमि देने में असमर्थ हूं। राजा बलि ने कहा—ऋणी को ऋण चुकाने के लिए कई बार कई योनियों में जन्म लेना पड़ता है। मैं कर्जदार नहीं रहना चाहता, अतः आप तीसरा पग मेरे सिर पर रखें और मेरे धर्म-वचन की रक्षा करें। कहा जाता है कि भगवान विष्णु ने इंद्र की रक्षा कर जहां बलि को पाताल पहुंचाया, वहीं बलि की नेकनीयती पर प्रसन्न होकर पाताल में उसके दरवाजे पर रक्षक बन रहने का वचन दिया।

जैन परंपरा में भी एक प्रसंग आता है—चक्रवर्ती महापद्म से नमुचि नामक सचिव ने अपने वाक्चातुर्य तथा बुद्धिबल से सात दिन का राज्य मांग लिया। वचनबद्ध चक्रवर्ती महापद्म को राज्य देना पड़ा। राजा-रईस सबने उपहार देकर नमुचि का वर्धापन किया। वीतराग पथ के आराधक सुव्रताचार्य व उनके शिष्यों ने नमुचि का वर्धापन नहीं किया। ये श्रमण तो वीतराग साधना में संलग्न थे। श्रमण राग-द्वेष मुक्त होते हैं, सब पर समभावी होते हैं—वे क्या उपहार देते और किस तरह वर्धापन करते। धर्मचर्चा में

सुव्रताचार्य के शिष्यों से नमुचि पहले कभी परास्त हो चुका था। उसी वैर का बदला लेने, वर्धापन न करने के बहाने अत्यंत क्रुद्ध होकर नमुचि ने मुनि-संघ के लिए सात दिन के भीतर राज्य छोड़कर जाने का आदेश निकाल दिया। ऐसे धर्मसंकट के समय मुनि विष्णुकुमार ने—जो चक्रवर्ती के ज्येष्ठ सहोदर थे— नमुचि को शांति से समझाया कि हम राग-द्वेष मुक्त वीतराग साधना में संलग्न श्रमण हैं। हम किसी का न सम्मान करते हैं, न अपमान-तिरस्कार। किंतु, नमुचि कोई भी बात सुनने को तैयार नहीं था। तब चक्रवर्ती के भाई के नाते मुनि विष्णुकुमार ने स्वयं के लिए तीन पग जमीन मांगी। नमुचि ने यह कहते हुए कि—तुम चक्रवर्ती के भाई हो—मुनि की इस बात को स्वीकार कर लिया। मुनि विष्णुकुमार ने अपनी लब्धि-विशिष्ट शक्ति से एक लाख योजन का विराट रूप बनाकर एक पांव जगती पर तथा दूसरा पांव चुलहिमवंत पर्वत पर रख चक्रवर्ती के संपूर्ण राज्य को अपने डग में समेट लिया। तीसरा पग नमुचि के मस्तक पर रख, उसे खत्म कर मुनि-संघ की रक्षा की। विकट परिस्थितियों में भी रक्षा की गारंटी देने वाला यह दिन आज भले ही एक रस्म-भर रह गया हो, पर भाई-बहिन के पवित्र प्रेम की याद आज भी यह पर्व दिलाता ही है।

आज राखी का धागा मधुर मानवीय संबंधों और प्रेम की प्रगाढ़ आस्था का प्रतीक है। सूत का एक धागा किस तरह इतना मजबूत हो जाता है कि विरोधी-से-विरोधी रहे लोग भी प्रेम और रक्षा के वचन से बंध जाते हैं। इतिहास में प्रमाण मिलते हैं कि राखी के धागों के बल पर ही हिंदू बहिनों की रक्षा मुसलमान भाइयों ने की। राखी का यह धागा कट्टर विरोधियों के सारे वैर-विरोधों को तोड़कर केवल प्रेम के स्नेहिल संबंधों को स्थापित कर देता है। जाति का बंधन हो या वैर-विरोध का प्रदूषित वातावरण—सब-कुछ भुला दिया जाता है।

मुगल बादशाह हुमायूं के शासनकाल की घटना है। गुजरात के बादशाह ने अकस्मात् चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। वीर क्षत्रिय बड़े साहस से लड़े, पर परिस्थिति इतनी प्रतिकूल हो गई कि महाराणा संग्रामसिंह की विधवा राजमाता कर्मवती (या कर्णवती) ने विवश होकर बादशाह हुमायूं को स्नेह-सूत्र राखी भेजी। विधर्मी बहिन द्वारा भेजी राखी ने पुरानी वैमनस्यता को धो डाला। बंगाल पर आक्रमण करने को तत्पर अपनी सेना का मुख हुमायूं ने चित्तौड़ की ओर मोड़ दिया। राखी के सम्मान में हर-संभव सहायता की। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कर्नल टॉड के अनुसार औरंगजेब जैसे कट्टर सम्राट ने उदयपुर की महारानी की राखी को ससम्मान स्वीकारा था।

गुजरात के बादशाह गयासुद्दीन ने एक बार नागौर को घेर लिया। समय की नब्ज को पहचान कर नागौर नरेश दिलीपसिंह की विदुषी कन्या पन्ना ने अपने पिता के कट्टर दुश्मन होते हुए भी पराक्रमी राजपूत रुद्रसिंह को राखी भेजकर सहायता की मांग की। पन्ना की राखी को पाकर राजपूत रुद्रसिंह अपनी पुरानी दुश्मनी को एकदम भूल गया। वह भाई-बहिन के परम पवित्र संबंध में बंध गया और जी-जान से लड़कर नागौर की रक्षा की, दुश्मन को भगा दिया और साथ-ही-साथ दुश्मनी को भगा डाला।

आज समाज के हर वर्ग ने राखी के कच्चे धागे को प्रेम और रक्षा का पवित्र प्रतीक मान कर अपना लिया है। आज तो व्यापारी अपनी कलम, दवात, बही-खातों व दुकान को राखी बांधते हैं। ब्राह्मण अपने यजमान को राखी बांधते हैं। राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री को भी बालिकाएं राखी भेजती हैं। कुछ बहिनें कैदियों के राखी बांधकर उन्हें सन्मार्ग पर लाने का पुनीत काम करती हैं। एक त्यौहार की यह सफलता है कि वह व्यापक रूप से जन-जन में रच-पच गया है।

एक जीवंत परंपरा का निर्वाहक यह रक्षापर्व, देश-जाति और प्राणीमात्र की रक्षा, पर्यावरण-सुरक्षा, व्रतों-नियमों-संकल्पों की रक्षा के साथ-साथ विभावों से आत्मा की रक्षा का पर्व बने—यह अपेक्षा है। इस पवित्र पर्व पर प्रत्येक नर-नारी शील-सदाचार, कर्तव्यपालन, दायित्वबोध का स्मरण करे। शिक्षक अपने दायित्वों का भली-भांति निर्वहन करें, व्यापारी-व्यापार में प्रामाणिकता का और राजनेता महामात्य चाणक्य के अनुरूप परम-त्याग का संकल्प लें। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग पवित्र संकल्प लेकर उसका सम्यक् पालन करे तो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का सही निर्माण हो सकता है।

रक्षाबंधन के इस पवित्र अवसर पर प्रत्येक बहन अपने भाई के भाल पर तिलक करके यह कामना करे कि मेरा भाई ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों पर विजय प्राप्त करेगा, अपने मन के विकारों को जीतेगा और उन्नत आत्मस्थिति को प्राप्त करेगा। इसी तरह हर भाई का कर्तव्य भी होता है कि वह चित्त व वीर्य की रक्षा करते हुए जितेंद्रिय बन अपनी बहिन

की अंतर-भावना को साकार करेगा। जीवन-संरक्षक रक्षा-कवच सदृश श्लोक है—

चित्तायतं च वीर्यं च, वीर्यायतं च जीवनम्
तस्माच्चित्तं च वीर्यं च, रक्षणीयं प्रयत्नतः

चित्त के अधीन है—वीर्य और वीर्य-संरक्षा पर ही टिका हुआ है—जीवन। अतः चित्त तथा वीर्य की उत्तम प्रयत्नों से रक्षा करें।

भारतीय राजनीति और अर्थनीति के प्राण-पुरुष चाणक्य का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है—कौटिल्य अर्थशास्त्र। दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ है—चाणक्य सूत्र। उसमें लिखा है—

सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः
अर्थस्य मूलं राज्यं, राज्यस्य मूलमिन्द्रियजयः

सुख का मूल है—धर्म। धर्म का मूल है—अर्थ (न्याय-नीति से प्राप्त धन)। धन का मूल है—राज्य और राज्य का मूल है—इंद्रियजय। जितेंद्रिय ही उत्तम जीवन जी सकता है, स्वस्थ समाज और समृद्ध राष्ट्र का निर्माण कर सकता है।

हमारे पवित्र पर्व ऐसे ही शाश्वत सूत्रों का स्मरण कराते हैं और इसी में इनकी सार्थकता है।

❖

सोचिअ गृही जो मोह बस, करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत, बिगत बिबेक बिराग।।

अर्थ : उस गृहस्थ को सोचना चाहिए जो मोहवश होकर कर्मपथ का त्याग करता है और उस संन्यासी को सोचना चाहिए जो प्रपंच में लगा हुआ है और उसे वैराग्य और विवेक नहीं है।

व्याख्या : जो ब्रह्मचर्य–अवस्था से संन्यास ग्रहण में असमर्थ होता है वह गृहस्थाश्रम स्वीकार करता है। उसका अधिकार केवल कर्म में है। यथा : कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयिनान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे (ईशावास्य उपनिषद)। केवल कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इसके अतिरिक्त हे नराभिमानी! तेरे लिए दूसरा रास्ता नहीं है। फल की इच्छा न करने से तुझे कर्म का लेप न होगा। अतः गृहस्थ को नित्य नैमित्तिक कर्म सदा करते रहने की विधि है। उसके त्याग से उसे प्रायश्चित्त होता है। ज्ञान होने पर वह संन्यास ग्रहण करके कर्मपथ का त्याग कर सकता है। पर मोहवश त्याग करने से वह त्याग बंधन का कारण है। इस भांति मोहवश होकर कर्मपथ के त्याग से अधोगति होती है। अतः ऐसा गृहस्थ शोचनीय है। बंधायैव भवत्येषा ह्यविद्याप्यक्रमोज्झिता। क्रम से छोड़ी हुई अविद्या बंधन का ही कारण होती है (विष्णु पुराण)।

लोकत्रय त्यागपूर्वक संन्यास ग्रहण किया जाता है। उसे यह सब संसार ब्रह्ममय प्रतीत होना चाहिए और त्यागपूर्वक जीवनयापन करना चाहिए। किसी के धन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। यथा : ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्यस्विद् धनम् (ईशावास्य उपनिषद)। संन्यास लेने पर जो प्रपंच में पड़ जाता है, ज्ञान वैराग्य खो बैठता है, उसे वांताशीः कुत्ता कहते हैं। क्योंकि उसने जिस वस्तु का त्याग किया था उसे फिर ग्रहण कर लिया। अतः प्रपंची संन्यासी शोचनीय हो जाता है।

—पं. विजयानंद त्रिपाठी
(रामचरित मानस पर विजया टीका से)

जैसो नीचो व्है चलै तैसो ऊंचो होय

❑ साध्वी लक्ष्मीकुमारी ❑

प्रकृति की सुनहरी गोद में पलने वाले पादप अपनी शाखा-प्रशाखाओं से युक्त झुक-झुककर यही शिक्षा और प्रेरणा देता है कि हे मानव! तूं नम्र बन, विनीत बन, क्योंकि विनम्र व्यक्ति को सब जगह सत्कार और सम्मान मिलता है। विनम्रता से दरिद्रता का नाश होता है। सौहार्द का विकास और शत्रुता का विनाश होता है। इसके ठीक विपरीत अविनीत को पग-पग पर असफलता झेलनी पड़ती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

जहा सुणी पूइ कण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्क सिज्जई॥

उत्त. अ. 1, गाथा 7

जैसे सड़े कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है। वैसे ही दुःशील (अविनीत), गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाले और वाचाल भिक्षु को गण से निकाल दिया जाता है। अविनीतता के कारण सब जगह से तिरस्कृत होना पड़ता है।

मनुष्यों को सावधान करते हुए वृक्षों ने पुनः कहा—देखो! अकड़कर खड़े रहने वाले बड़े-बड़े वृक्ष प्रभंजन (हवा) के झोंकों की असह्य मार से घायल होकर धरासाई हो जाते हैं—जबकि झुक जाने वाले फिर से पूर्ववत् खड़े हो जाते हैं। विनम्रता से इनसान बड़ा होता है, न कि छोटा। नम्र व्यक्ति सबको अच्छा लगता है। नम्रता से कुछ घटता नहीं, अपितु विजय की गरिमा से मंडित होता है। सरित्पति और सरिता का रोचक परिसंवाद हमें बताता है—एकबार सरित्पति (समुद्र) ने वेत्रवती नदी से कहा—प्रिये! सभी नदियों के मधुर व्यवहार से मैं संतुष्ट हूं। क्योंकि वे जब मिलने आती हैं, तब उपहार स्वरूप कुछ-न-कुछ लेकर आती हैं। तू कुछ भी नहीं लाती। फिर भी इतनी अकड़कर रहती है? वेत्रवती ने मुस्कान के साथ कहा—'हे प्राणनाथ? कृपया आप बताएं कि, मेरा क्या अपराध है?'

समुद्र ने आक्रोश प्रकट करते हुए कहा—'वेत्रवती! तेरे तट पर बेंत के बहुत झाड़ हैं, लेकिन क्या कभी भी बेंत का एक टुकड़ा भी लाकर दिया? तू कितनी कंजूस है? जबकि सभी वस्तुओं पर मेरा अधिकार है।'

सागर की आक्रोशभरी वाणी सुनकर वेत्रवती नदी ने कहा—'पतिदेव! इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। मैं जब वेगपूर्वक आती हूं, तब सारे बेंत के झाड़ झुककर पृथ्वी की कोख में दुबक जाते हैं और जब मेरा बहाव कम हो जाता है, तब वे फिर धीरे-धीरे ज्यों-के-त्यों खड़े हो जाते हैं। इस हालत में मैं तो एक भी बेंत तोड़ नहीं पाती। हे स्वामिन्! आप ही बताइए, इसमें मेरा क्या दोष?'

स्मित मुस्कान के साथ पारावार ने कहा—हे सरिते? तेरा कथन बिल्कुल सही है—वास्तव में विनय और नम्रता में बहुत बड़ी शक्ति निहित है।

संसार में विनय और नम्रता शक्तिशाली गुण हैं। अतः मनुष्य के लिए नम्रता और भी अधिक वांछनीय और

> *विद्याध्ययन के बाद भी यदि नम्रता नहीं आई तो वह शिक्षा भारभूत समझी जाएगी। 'विद्या ददाति विनयम्'—यह प्राचीन उक्ति बहुत समीचीन है। जिस विद्या से विनय की उपलब्धि हो, वही विद्या सही विद्या है। किन्तु आज के इस वैज्ञानिक और तार्किक युग में नम्रता के दर्शन प्रायः असंभव ही हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि आज की शिक्षा विद्याध्ययन न होकर मात्र आजीविका चलाने के लिए प्रमाण-पत्र हासिल करना-भर है। जब अध्ययन ज्ञानार्जन के लिए न होकर केवल अर्थार्जन के लिए हो जाता है, तब वह अध्ययन अधःपतन का कारण ही होता है। आज की अध्ययन परंपरा में यही बात नजर आ रही है। शिक्षा प्रणाली के उद्देश्य पवित्र न रहकर दूषित हो गए। इसीलिए आज शिक्षा को भी दूषित कहा जाने लगा है। नम्रता से ज्ञान का विकास होता है। ज्ञान और विनय का घनिष्ठ संबंध है। कहा भी है—'नमइ मेहावी'—ज्ञानी नम्र होता है।*

आदरणीय है। ज्ञानपिपासु के लिए बताया गया है—'विनयवान् लभते ज्ञानम्'। विनयवान को ज्ञान की प्राप्ति होती है।

बिना नम्रता शिक्षा भारभूत

विद्याध्ययन के बाद भी यदि नम्रता नहीं आई तो वह शिक्षा भारभूत समझी जाएगी। 'विद्या ददाति विनयम्'—यह प्राचीन उक्ति बहुत समीचीन है। जिस विद्या से विनय की उपलब्धि हो, वही विद्या सही विद्या है। किन्तु आज के इस वैज्ञानिक और तार्किक युग में नम्रता के दर्शन प्रायः असंभव ही हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि आज की शिक्षा विद्याध्ययन न होकर मात्र आजीविका चलाने के लिए प्रमाण-पत्र हासिल करना-भर है। जब अध्ययन ज्ञानार्जन के लिए न होकर केवल अर्थार्जन के लिए हो जाता है, तब वह अध्ययन अधःपतन का कारण ही होता है। आज की अध्ययन परंपरा में यही बात नजर आ रही है। शिक्षा प्रणाली के उद्देश्य पवित्र न रहकर दूषित हो गए। इसीलिए आज शिक्षा को भी दूषित कहा जाने लगा है। नम्रता से ज्ञान का विकास होता है। ज्ञान और विनय का घनिष्ठ संबंध है। कहा भी है—'नमइ मेहावी'—ज्ञानी नम्र होता है। ज्ञान के अभाव में विनय नहीं आता और विनय के अभाव में ज्ञान। सभी धर्मों ने यह स्वीकार किया है। भगवान महावीर ने तो ज्ञान का ही नहीं, अपितु धर्म का मूल भी विनय ही माना है। उन्होंने अपनी दिव्य वाणी में कहा है—**एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमोयसे मोक्खो**— धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसकी परम निष्पत्ति है। मोक्ष तो विनय के मूल से उद्भूत धर्म-वृक्ष का फल ही है। यदि किसी को मोक्ष प्राप्त करना है, धार्मिक और ज्ञानी बनना है—तो इन सबके मूल बीज विनय को स्वीकार करना ही होगा। उसके अभाव में इनमें से कोई एक की भी उपलब्धि नहीं हो सकती।

हम क्यों झुकें?

वर्तमान युवा पीढ़ी का यह कथन है कि जिसमें दम नहीं, कमजोर है—वही व्यक्ति दूसरों के सामने झुकता है, हम क्यों झुकें? झुकने वाला कमजोर होता है। ऐसा वही व्यक्ति कह सकता है, जिसमें अहंकार का नाग फुफकारें मारता हो। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

थंभाव कोहाव मयप्पमाया, गुरु सगासे विपायं न सिक्खे।
सोचे उ तस्स अभूइ भावो, फलं व कीयस्स वहाय होइ॥

जो मुनि गुरु के समीप जाकर क्रोध, मान, माया और प्रमाद के वशीभूत होकर अविनय से शिक्षा प्राप्त करता है, वह विद्या उसके विनाश का हेतु बनती है। जैसे कीचक (बांस) का वृक्ष फल लगने पर विनाश को प्राप्त होता है।

विनय की पहचान

विनय की पहचान के लिए विनीत व्यक्ति में कुछ गुण होने चाहिए। जैसे कि—व्यवहारकुशलता, शालीनता, सहिष्णुता। जीवन में आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों को विनयी व्यक्ति समता भाव से सहन करता है। सद्प्रवृत्तियों से लगाव और दुष्प्रवृत्तियों से प्रतिक्षण बचने का प्रयत्न करता है। कहा है—'विनयात् याति पात्रताम्'—विनय से व्यक्ति सद्गुणों को प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त करता है। विनय की आराधना से ऐहिक और पारलौकिक—दोनों प्रकार के सुख मिलते हैं। इसकी महत्ता बताते हुए महाकवि बिहारी ने कहा है—

नर की अरु नारी की, एके गति करि जोय।
जेतो नीचो व्है चलै, तेतो ऊंचो होय॥

संगठन का विकास

विनय से संगठन-शक्ति का विकास होता है। विनम्रता से घर में प्रेम का वातावरण बना रहता है और अपूर्व आनंद की प्राप्ति होती है। विनय के संदर्भ में बताया है—

विणया णाणं णाणाओ, दंसण दंसणाओ चरणं च।
चरणाहितो मोक्खो, मोक्खे मोक्खं निरावाहं॥

विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। विनय धर्म और ज्ञान की नींव है।

विकास का पहला सोपान

विनम्रता शांत जीवन और शांत सहवास के विकास का प्रथम सोपान है। यदि जीवन जीने की कला सीखनी है तो पहले विनम्र बनें। सब कलाओं का विकास स्वतः हो जाएगा।

जैन धर्म में तप के बारह प्रकार बताए हैं। छह बाह्य और छह आभ्यंतर। विनय आभ्यंतर तप की श्रेणी में है। अपने से बड़ों का सत्कार करना, बहुमान देना विनय है। कहा है—

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासण दायणं।
गुरु भत्ति भाव सुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ॥

शेष पृष्ठ 56 पर

बालकथा

पुरस्कार

❑ अनंत देव शर्मा ❑

'उफ कितना दुष्ट है यह लड़का! इसे पीटकर सीधा किए बगैर नहीं चलेगा। लड़कों के साथ इसके लड़ने-झगड़ने की कई वारदातें मैं सुन चुका हूं। बुला उसे।'

'मोहन, मोहन', चौकीदार मोहन को ऊंची आवाज में हेडमास्टर ने पुकारा। हेडमास्टर के गरजने की आवाज से ही चौकीदार मोहन समझ गया कि उनका पारा चढ़ा हुआ है। तीन छलांग में वह कमरे में आया और हेडमास्टर के पास पहुंचकर सहमते हुए पूछा, 'जी, सर।'

'तुरंत जाकर सातवीं कक्षा के तपन को बुला ला।' हेडमास्टर ने आदेश दिया। मोहन एकदम कमरे से निकल गया।

यहां तपन का जरा परिचय दे दिया जाए।

तपन पदुमनि गांव के किरानी का मंझला लड़का है। छरहरे कद का होने पर भी बड़ा बलिष्ठ। रंग सांवला, बड़ी-बड़ी आंखें, फुर्तीला और साथ ही पढ़ने-लिखने में भी तेज। मगर क्या घर, क्या बाहर, उसके उपद्रवों का कोई पार नहीं। बेकार बातों में उलझने में माहिर। घर के लोग भी उससे आतंकित रहते।

> दस बजे स्कूल लगा। इस नए पुरस्कार के बारे में सभी वर्गों के लड़के आपस में काफी चर्चा कर रहे थे। सातवीं कक्षा में नरेन तपन की ओर संकेत करता हुआ व्यंग्य से हंस रहा था। उसने ऊंची आवाज में पास बैठे भवेश से कहा—'सुना है न भवेश! इस बार हमारे स्कूल में उत्तम चरित्र के लिए जिस पुरस्कार की घोषणा की गई है, वह हमारे वर्ग के तपन को मिलने वाला है।' यह सुनते ही वर्ग के सभी लड़के खिलखिलाकर हंस पड़े। शर्म और अपमान से तपन का चेहरा स्याह हो गया। फिर भी वह सिर झुकाए चुप ही रहा।

पर, तपन में एक खास बात थी कि वह पहले या बिना कारण किसी को परेशान नहीं करता था, किसी से झगड़ा-टंटा नहीं करता। अगर कोई उससे उलझे या उसे चिढ़ा दे, तो बस, फिर उसकी खैर नहीं। हमउम्र लड़कों का तो वह सरदार ही है। किसी को बेवजह कोई मारे या गाली दे दे, तो उसे बता देना-भर काफी है। उसे वह बिलकुल ठीक करके ही छोड़ता। यूं कहा जाए तो वह सही मायने में बेसहारों का सहारा है। इसी कारण उसके साथी लड़के जहां उसे पसंद करते हैं, वहीं उससे डरते भी हैं।

गांव के प्राथमिक स्कूल की आखिरी परीक्षा पास करने के बाद वह पंद्रह मील दूर अपने मामा के यहां चला गया था और वहां के हाईस्कूल में सिर्फ साल-भर पढ़ने के बाद फिर घर लौट आया और गांव से डेढ़ मील दूर के ज्ञानपीठ हाईस्कूल में भरती हो गया। इस हाईस्कूल में उसे आए अभी सिर्फ एक माह ही हुआ था। इसी बीच उसकी शिकायतें आने लगीं।

पदुमनि गांव के ही व्यापारी हरेन महाजन ने तपन के खिलाफ हेडमास्टर से फरियाद की। हेडमास्टर को दी गई अपनी अर्जी में उसने लिखा था—कल बदमाश तपन ने लड़कों के झुंड के साथ बिना कारण उसकी दुकान पर पत्थर बरसाए और उसके उकसाने पर दूसरे लड़कों ने दुकान में घुसकर गड़बड़ी की है। इसलिए हेडमास्टर साहब इसका उचित फैसला कर दें।

चौकीदार के साथ तपन आया और डरता हुआ हेडमास्टर की ओर नजर डाल, सिर झुकाकर खड़ा हो गया। हेडमास्टर ने हाथ में पकड़ी बेंत हिलाते हुए कहा, 'ऐ लड़के! तेरा ही नाम तपन है?'

—'जी सर!' विनम्रता से जवाब दिया।

—'हूं, तू इन सज्जन को पहचानता है?' पास खड़े हरेन महाजन की ओर उंगली से इशारा करते हुए हेडमास्टर ने तपन से पूछा।

—'जी, इनका घर तो हमारे गांव में ही है।' तपन ने पहले जैसे विनम्र भाव से ही जवाब दिया।

—'हूं, ठीक है। कल शाम को लड़कों की टोली ले, तूने इनकी दुकान पर पत्थर क्यों फेंके थे? सच-सच बता। नहीं तो बेंत मार-मारकर तेरी चमड़ी उधेड़ दूंगा।' हेडमास्टर ने आंखें तरेर कर पूछा।

—'जी सर, बंतू आदि के साथ इनकी दुकान पर मैंने पत्थर फेंके थे, यह सच है।' तपन बोला।

—'क्यों फेंके थे पत्थर? बदमाश कहीं का, बता?' हेडमास्टर ने डांटा।

—'सर, चीजें बेचते समय यह आदमी ग्राहकों को ठगा करता है। कीमत भी ज्यादा लेता है, तोल में भी कम देता है। तिस पर कागज के ऐसे थैले बनवाए हैं, जिनकी पेंदी में मोटी-मोटी दफ्ती लगी रहती है। ऐसे थैले बनाने के लिए मोटी-मोटी गद्दियां मंगवा रखी हैं। सर, परसों सवेरे इसके यहां से एक किलो दाल ली थी। घर लाकर तोली तो सिर्फ आठ सौ ग्राम दाल निकली। थैले को फाड़कर उसकी गद्दी तौलने पर वह पचास ग्राम की थी। शेष डेढ़ सौ ग्राम इसने तोल में कम दिया था। गांव के सभी लोग इसके बारे में कहा-सुना करते हैं। मैंने जब कल शाम को इससे वह बात बताई तो इसने मुझे उलटे गालियां देकर दुकान से भगा दिया था, सर। इसी कारण मैंने लड़कों को साथ लेकर इसकी दुकान पर पत्थर फेंके थे।' तपन ने कहा।

हेडमास्टर ने हरेन महाजन के चहरे पर नजर डाली। उसका चेहरा स्याह पड़ गया था। हेडमास्टर ने कुछ सोचा। फिर तपन की ओर देखकर बोले—'जो भी हो, तूने यह काम अच्छा नहीं किया, किसी के यहां जाकर यों उपद्रव करना बड़ा बुरा है। अगर महाजन ने बुरा काम किया है तो उसका फैसला सरकार या और लोग करेंगे। तुझे क्या पड़ी थी? आ, हाथ फैला—'

एक-एक कर पांच बेंत खाकर तपन कुछ देर के बाद कमरे से निकल गया। उसकी कक्षा के लड़के उसकी ओर देखकर व्यंग्य करते हुए हंस रहे थे। दो-एक ने आवाजें भी कसीं।

कुछ दिन बाद एक और घटना हो गई। घटना स्कूल की पांचवीं घंटी में हुई। तपन स्कूल के आस-पास घूमने वाले एक उद्दंड सांड को वश में करना चाहता था, तभी वह हंगामा हो गया था। उसके लिए तपन अपने को अपराधी नहीं मानता। उस सांड के उपद्रवों के मारे वहां के बहुत-से लोगों की नाक में दम हो गया था। कई लोगों को सींग मारकर उसने घायल कर दिया था। अगर कोई लकड़ी या डंडा लेकर आगे बढ़ता तो वह सांड तनकर उसकी ओर दौड़ पड़ता। सांड की वह रुद्रमूर्ति देखकर उसके सामने जाने की हिम्मत भला कौन कर सकता था! सांड के उपद्रवों से तपन के मन में उसके प्रति एक होड़ की भावना जाग उठी थी। उसने मन-ही-मन कहा—ठहरो बच्चू, तुम्हें मैं सीधा करके ही छोड़ूंगा।

कुछ सोच-विचार कर उस दिन विराम की घंटी में वह कहीं से एक रस्सी और एक सांटी ले आया था। चुपके से सांड के पास पहुंचकर मौके से न जाने कब, कैसे अचानक कूद कर उसकी पीठ पर सवार हो गया और घोड़े की भांति सांड के मुंह में रस्सी की लगाम लगा दी। सांड पहले तो समझ ही नहीं पाया था। लेकिन जैसे ही पता चला कि उसकी पीठ पर शासन करने वाला कोई आदमी सवार है, तब तो उसका धीरज टूट गया। बात समझ में आते ही कूद-फांद, हिल-हुल, दौड़-धूप कर, कैसे भी हो, उसे नीचे गिरा देने की वह कोशिश करने लगा।

उधर स्कूल में पांचवीं घंटी की पढ़ाई शुरू हो गई थी। मगर तपन का तो उधर ध्यान ही नहीं था। वह तो सांड को वश में करने में जुटा हुआ था। सांड की

उछल-कूद के बावजूद तपन अपने को संभाले हुए उसकी पीठ पर लगाम पकड़े रहा। एक बार लगाम खींचकर तपन ने सांड की पीठ पर दो-चार सांटी जमा दी, सांड बिल्कुल मतवाला-सा हो उठा। वह स्कूल की चारदीवारी के अंदर घुस आया और सांतवें वर्ग के बीचोबीच होकर दौड़ने लगा। अचानक एक ऐसी चिंतनीय घटना देखकर उस वर्ग के शिक्षक और छात्रों के होश-हवास गुम हो गए। भगदड़ मच गई। जिसे जिधर जगह मिली, उधर भागा। धक्कम-धक्के, ठेलमठेल में कौन किस पर गिरा, कोई ठिकाना न रहा। शिक्षक रजनी चहरिया भी किसी तरह दौड़ते हुए बाहर निकल कर ही बच पाए। उधर सांड की कूद-फांद और उसके सींगों की चोटों से स्कूल के दरवाजे-खिड़कियों के बहुत-से शीशे फूट गए। वहां भी कोई चारा न पाकर सांड हंकड़ता हुआ बाहर दौड़ा और स्कूल के मैदान में धम्म से गिर पड़ा। तपन अपने को किसी तरह बचा पाया और कूदकर दूर जा पड़ा। सांड खड़ा होकर डर के मारे पीछे की ओर देखे बगैर तेजी से दौड़ भागा...बिलकुल हवा-सी दौड़...दौड़ते-दौड़ते वह स्कूल की चारदीवारी से दूर निकल भागा।

हेडमास्टर के पास तपन के खिलाफ फिर मामला आया। मामला लाने वाले थे खुद रजनी मास्टर। सांड के संबंध में शिकायत पाते ही हेडमास्टर आग-बबूला हो उठा। हरेन महाजन वाली और बीच-बीच में दूसरे लड़कों की छोटी-मोटी घटनाएं याद आ जाने के कारण उनका मन और भी कड़वा हो उठा था। इस उत्पाती लड़के की करतूतों के कारण ही आज स्कूल के शिक्षक और छात्रों की ऐसी दुर्गति हुई और स्कूल का नुकसान भी हुआ। यह सब सोचकर हेडमास्टर ने तुरंत तपन को बुला लाने के लिए चौकीदार मोहन को भेज दिया।

क्षण-भर बाद ही मोहन के साथ तपन डरते-डरते हेडमास्टर के सामने आया। तपन को देखते ही हेडमास्टर ने दांत पीसते हुए बेंत हिला-हिला कर कहा—'अरे बदमाश, आज तूने उस सांड को कक्षा में क्यों घुसा दिया था? बता, जल्द बता, नहीं तो...'

—सर, मैंने जान-बूझकर सांड को कक्षा में नहीं घुसाया। मैं उसकी पीठ पर चढ़कर उसे वश में करना चाहता था, तभी वह दौड़कर कक्षा में घुस गया था। सिर झुकाकर तपन ने जवाब दिया।

—'भला तू क्लास छोड़कर सांड की पीठ पर चढ़ने क्यों गया था? तुझे क्या पड़ी थी? तो ले, हाथ फैला।' हथेली पर हेडमास्टर की बेंत की पंद्रह चोटें झेलकर तपन अपनी कक्षा में आया। घृणा और व्यंग्य की हंसी से उसके वर्ग के लड़कों ने उसका स्वागत किया। इस घटना के बाद तपन समूचे स्कूल में एक बुरे लड़के के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

कुछ ही देर बाद हर वर्ग में हेडमास्टर की सूचना आई। सूचना में लिखा था—वर्ग चालू रहते समय सातवीं कक्षा के छात्र तपन ने एक सांड की पीठ पर सवार होकर सातवें वर्ग में घुसकर शिक्षक और छात्रों की दुर्गति की है तथा स्कूल के शीशे तोड़े हैं। इस अपराध के कारण उसे पंद्रह बेंत लगाई गई हैं और क्षति-पूर्ति के रूप में उस पर पचीस रुपये का जुर्माना किया गया है। भविष्य में ऐसा काम करने पर उसे स्कूल से निकाल दिया जाएगा।

सूचना पाकर दो लड़कों ने मुंह टेढ़ा कर तपन की ओर देखा और बरामदे में जाकर थूक आए।

उसी दिन शाम को हेडमास्टर स्कूल से लौटकर पदुमनि गांव की तरफ घूमने निकले थे। बीच-बीच में वे यों ही टहला करते। गांव से वापस लौटते समय स्कूल के उस धूमकेतु बदमाश लड़के तपन की एक और करतूत देख वे विस्मित हो उठे। एक भिखारिन की भीख मांगने की टोकरी अपने सिर पर लिए तथा एक हाथ से उस भिखारिन बुढ़िया को पकड़े तपन चला जा रहा था। कुछ दूरी पर उसी की कक्षा का एक लड़का नरेन और दूसरा महेश, उस बुढ़िया की टोकरी सिर पर रखने के कारण तपन की हंसी उड़ाते आ रहे थे।

बात यह थी कि गांव से भीख मांगकर लौटते हुए उस बुढ़िया को जोरों का बुखार चढ़ आया था। टोकरी लिए चलना तो दूर, उसे खुद कदम बढ़ाना भी मुश्किल हो गया था। बुढ़िया की ऐसी बुरी हालत देखकर तपन के मन में बड़ी वेदना हुई। उसने तुरंत टोकरी को अपने

सिर पर ले लिया। कहा—'बूढ़ी दादी, मेरा हाथ पकड़कर चली चलो।' और बुढ़िया को हाथ से पकड़े वह उसके घर की ओर चल पड़ा था।

हेडमास्टर को आते देखकर नरेन और महेश ने उन्हें नमस्ते किया और तपन की ओर देखते हुए व्यंग्य से हंस दिए। मतलब—तपन की करतूत अब हेडमास्टर महोदय खुद ही देख लें। हेडमास्टर ने बात का पता लगाने के लिए बुढ़िया से पूछा। बुढ़िया ने बुखार से कांपते हुए सारी बातें बता दीं। तपन की ओर उंगली दिखा कर उसने कहा—'बाबा, यह बच्चा अगर न होता तो आज मुझे इसी सड़क के किनारे पड़ा रहना पड़ता। भगवान इस लाल का भला करे। उन दोनों लड़कों ने भी मेरी हालत देखी थी, मगर मदद करना तो दूर, उलटे मेरी मदद करने के कारण इस बच्चे की ही खिल्ली उड़ाते आ रहे हैं। कैसे निर्दयी हैं ये।' कहती हुई बुढ़िया थकावट के मारे हांफने लगी।

सारी बातें समझकर हेडमास्टर ने नरेन और महेश को डांटकर वहां से भगा दिया और बुढ़िया को उसके घर पहुंचा देने के लिए तपन से कहकर उन्होंने अपनी राह ली।

इस के दो हफ्ते बाद एक रोज हेडमास्टर मधुकुछि गांव से टहलते हुए डेरे की ओर लौट रहे थे। राह में एक दृश्य देखकर वे दंग रह गए। उन्होंने देखा—उस उपद्रवी सांड की एक टांग किसी ने तोड़ डाली है। तपन उसे पकड़कर कपड़े की पट्टी बांध, कुछ जंगली पौधों का रस निचोड़ कर उस पर डाल रहा है। उसकी आंखें भरी हुई हैं। हेडमास्टर जब वहां आकर खड़े हुए तो वह चौंक-सा गया और उसने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। हेडमास्टर ने तपन की आंखों की ओर देखते हुए पूछा—तपन, तू यहां क्या कर रहा है?

—'सर, किसी दुष्ट लड़के ने इस बेचारे की एक टांग तोड़ डाली है। इसे बड़ी तकलीफ हो रही है। सर, अनबोला जीव है, इसी कारण आदमी जैसी चीख-पुकार नहीं मचा पाता। अनबोले जीव को इस तरह से तकलीफ देना बुरा है, सर।' तपन ने बड़े दुखी मन से हेडमास्टर से कहा।

—'अरे तूने तो इसी सांड को 'बड़ा दुष्ट है' कहकर उस दिन लगाम लगाकर दौड़ाया था? फिर आज यह तेरे लिए इतना भला कैसे हो गया?'

—'सर, पहले यह दुष्ट था, यह सच है। मगर जिस दिन मैंने लगाम लगाई थी, उसी दिन से यह सुधर गया था। आदमी को मारना तो दूर, आदमी को देखते ही डर के मारे राह से हट जाता था। सर, ऐसी हालत में बेचारे को यों मारना उचित न था। इसे बड़ी तकलीफ हो रही है। इस कारण, मैं ही इसका घाव धोकर, जंगली पत्तियों का रस निचोड़कर पट्टी बांधे दे रहा हूं। पिताजी ने बताया था, ये जंगली पत्तियां घाव की अच्छी दवा हैं'—तपन ने जवाब दिया।

सांड की तकलीफ से उसका मन भी भारी था, आंखें डबडबाई थीं।

हेडमास्टर ने क्षण-भर कुछ सोचा। इसके बाद तपन के चेहरे की ओर देखते हुए प्यार से उसके गालों को सहलाया। कुछ कहा नहीं। वहां से वे घर की ओर चल पड़े। उनकी आंखें भी भर आईं थीं। सांड के लिए नहीं, तपन के लिए।

ज्ञानपीठ हाईस्कूल में पुरस्कार-वितरण समारोह का दिन। दो बजे से सभा का आयोजन था। गुवाहाटी के किसी कालेज के अध्यक्ष को सभा की अध्यक्षता करने के लिए आमंत्रित किया गया था। हेडमास्टर खीन बरुआ ने इस बार अन्य पुरस्कारों के अलावा एक विशेष पुरस्कार भी देने की व्यवस्था की थी। घोषणा कर दी गई थी—'स्कूल के सबसे उत्तम चरित्रवान लड़के को यह पुरस्कार दिया जाएगा। वह पुरस्कार महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और लालबहादुर शास्त्री के जीवन चरित्र की तीन पुस्तकों का था।

दस बजे स्कूल लगा। इस नए पुरस्कार के बारे में सभी वर्गों के लड़के आपस में काफी चर्चा कर रहे थे। सातवीं कक्षा में नरेन तपन की ओर संकेत करता हुआ व्यंग्य से हंस रहा था। उसने ऊंची आवाज में पास बैठे भवेश से कहा—'सुना है न भवेश! इस बार हमारे स्कूल में उत्तम चरित्र के लिए जिस पुरस्कार की घोषणा की गई है, वह हमारे वर्ग के तपन को मिलने वाला है।'

यह सुनते ही वर्ग के सभी लड़के खिलखिलाकर हंस पड़े। शर्म और अपमान से तपन का चेहरा स्याह हो गया। फिर भी वह सिर झुकाए चुप ही रहा।

सभा आरंभ हुई। अध्यक्ष के आसन ग्रहण करने के बाद सचिव ने प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। फिर लड़के-लड़कियों के नृत्य-गीत, कविता-आवृत्ति आदि कार्यक्रम हुए। उपस्थित सज्जनों की ओर से दो-चार व्यक्तियों ने भाषण दिए। अध्यक्ष के भाषण के पश्चात पुरस्कार-वितरण आरंभ हुआ। विभिन्न विषयों में कई छात्र-छात्राओं को पुरस्कार मिले। जनता की तालियों के बीच तथा अध्यक्ष के हाथों पुरस्कार प्राप्त कर सबने गौरव का अनुभव किया। अब वह नया विशेष पुरस्कार देने की बारी आई। उपस्थित लोगों की आंखों में उत्सुकता छाई हुई थी। वह विद्यार्थी भला है कौन, जो पांच सौ से अधिक छात्र-छात्राओं में अपने को सबसे चरित्रवान छात्र के रूप में ला सकता है। तभी हेडमास्टर ने अध्यक्ष और उपस्थित सज्जनों को संबोधित करते हुए कहा—माननीय अध्यक्ष महोदय एवं सज्जनवृंद, अब हमारे स्कूल के सबसे चरित्रवान छात्र को विशेष पुरस्कार देने की बारी है। वह पुरस्कार सातवीं कक्षा के विद्यार्थी श्री तपनकुमार हाजारिका को देना तय हुआ है।

हेडमास्टर की घोषणा सुनते ही वहां उपस्थित स्कूल के इक्कीस शिक्षकों और पांच सौ से अधिक छात्रों की जबान पर ताला पड़ गया। नरेन और भवेश के चेहरे ऐसे स्याह हो गए मानों किसी ने उन पर बोतल भर स्याही उड़ेल दी हो।

हेडमास्टर की जुबान से अपना नाम सुनकर तपन को तो पहले विश्वास ही नहीं हुआ था। इसीलिए घोषणा सुनकर भी पुरस्कार हेतु उठकर जाने की हिम्मत उसमें नहीं थी। जब हेडमास्टर ने फिर से 'तपनकुमार हाजारिका, सातवीं कक्षा' कहकर पुकारा तो लगा, उसके सिर में चक्कर आ गया हो। स्कूल में जो 'सबसे बुरा लड़का' के रूप में चर्चित है, भला उसे ही क्यों आज उत्तम चरित्रवान छात्र का पुरस्कार देने को पुकारा जा रहा है? किसी तरह उठकर वह अध्यक्ष के पास गया और प्रणाम कर हाथ बढ़ाया एवं पुरस्कार ग्रहण किया।

पुरस्कार प्रदान करने के बाद हेडमास्टर ने स्वयं वर्णन किया—तपन ने किस प्रकार उस बुढ़िया भिखारिन की मदद की थी, किस तरह से उसने बेजुबान जीव उस सांड की सेवा की थी। फिर खुश होकर अपनी ओर से भी तपन को पांच रुपया पुरस्कार दिया।

तालियों से सभा गूंज उठी। तपन की आंखों में खुशी के आंसू छलक आए। ❖

असमिया से अनुवाद : **नवारुण वर्मा**

जेतो नीचो व्है चलै तेतो ऊंचो होय पृष्ठ 51 का शेष

खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरु की भक्ति करना और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय तप है।

शांत सहवास और ज्ञान की उपलब्धि—दोनों विनम्रता की देन हैं। दशवैकालिक में कहा है—

विवत्ति अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्सय।

अविनीत को विपदा और विनीत को संपदा प्राप्त होती है। किंतु आज विनय की इस परंपरा को लोग भूलते जा रहे हैं। इसी का दुष्परिणाम है कि अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता बढ़ती जा रही है। आचार्य महाप्रज्ञजी कहते हैं—'सहयोगी मिले, यह सौभाग्य की बात है। विनम्र सहयोगी मिले, यह परम सौभाग्य की बात है। विनम्रता और सहिष्णुता में जो मिठास है, वह मिठास किसी में भी नहीं है।' वे इस सूत्र को याद रखने का संदेश भी देते हैं—'मैं विनम्रता की साधना करूंगा।'

सात्त्विक प्रेम

विनम्र स्वभाव वाला व्यक्ति चारों ओर से सात्त्विक प्रेम प्राप्त करता है। विनय से व्यक्तित्व का विकास तो होता ही है, साथ ही, संपर्क में आने वाले का भी अनेक प्रकार से विकास होता है। इसके विपरीत उद्दंड और क्रोधी स्वभाव वाले को चारों तरफ से अपमान की गरल-घूंट मिलती है। ऐसे व्यक्ति के संपर्क से अन्यजनों को उद्दंडता का ही पाठ सीखने को मिलता है।

अतः सफल जीवन जीने के लिए विनम्रता ही अमृत-रस है। किसी भी स्थिति में इसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। विनय से निर्मलता, पवित्रता और आंतरिक सौंदर्य की प्राप्ति होती है। ❖

With best compliments from :

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053
Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।